RNI No.–UPHIN/2018/77043 ISSN : 2582–2624

भावक

हिंदी साहित्य : सृजन एवं चिंतन के विविध आयामों पर केंद्रित

खंड–1, अंक–4; आषाढ़-भाद्रपद, 2076/जुलाई-सितंबर, 2019

संरक्षक

डॉ. कमल किशोर गोयनका
उपाध्यक्ष, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा
ई–मेल : kkgoyanka@gmail.com

परामर्श मंडल

प्रो. रामवीर सिंह
विभागाध्यक्ष, नवीकरण एवं भाषा प्रसार विभाग
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

प्रो. जय सिंह 'नीरद'
पूर्व निदेशक
क. मुं. हिंदी तथा भाषा विज्ञान,
विद्यापीठ, आगरा
ई–मेल : prof.jaisingh@gmail.com

प्रो. रामसजन पाण्डेय
पूर्व विभागाध्यक्ष (हिंदी)
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक
ई–मेल : drramsajanpandey@gmail.com

प्रो. चंदन कुमार
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई–मेल : dr.chandanchaubey@gmail.com

प्रधान संपादक

प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
निदेशक, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
ई–मेल : nkpandey65@gmail.com

संपादक

डॉ. ज्योत्स्ना रघुवंशी
एसोसिएट प्रोफेसर, अध्यापक शिक्षा विभाग,
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
ई–मेल : drjyotsnar@gmail.com

संपादक मंडल

प्रो. योगेन्द्र प्रताप सिंह
हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
ई–मेल : singhypdr@gmail.com

डॉ. विवेकानंद उपाध्याय
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
ई–मेल : vivekanand27@gmail.com

डॉ. मीनाक्षी दुबे
सहायक प्रोफेसर, अध्यापक शिक्षा विभाग
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

श्री अनुपम श्रीवास्तव
सहायक प्रोफेसर, सूचना एवं भाषा प्रौद्योगिकी विभाग
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
ई–मेल : anupamhindi.khs@gmail.com

अध्यापक शिक्षा विभाग

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार
हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा–282005

RNI No.–UPHIN/2018/77043 ISSN : 2582–2624

हिंदी साहित्य : सृजन एवं चिंतन के विविध आयामों पर केंद्रित

भावक

खंड–1, अंक–4; आषाढ़–भाद्रपद, 2076/जुलाई–सितंबर, 2019

© **सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा**

प्रकाशक – **डॉ. ज्योत्स्ना रघुवंशी**
अध्यापक शिक्षा विभाग,
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

संपादकीय कार्यालय – **अध्यापक शिक्षा विभाग**
केंद्रीय हिंदी संस्थान
हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा – 282005
फोन/फैक्स – 0562–2530684
ई–मेल : bhaavakpatrika@gmail.com
drjyotsnar@gmail.com

संपादन सहयोग – **डॉ. आकाश भदौरिया**

सदस्यता शुल्क – व्यक्तिगत –प्रति अंक ₹ 40/–, वार्षिक – ₹ 150/–
संस्थागत – वार्षिक शुल्क ₹ 250/–
(डाक व्यय प्रति अंक ₹ 35/– तथा वार्षिक
₹ 100/–अतिरिक्त होगा)
विदेशों में प्रति अंक $ 10, वार्षिक $ 40

मुद्रक – **दि प्रिंट्स होम,** 20/108, यमुना किनारा,
बेलनगंज, आगरा–282004

इस पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं के विचारों से केंद्रीय हिंदी संस्थान का सहमत होना आवश्यक नहीं है। प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए स्वामी/प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।

स्वामित्व – सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा

अनुक्रम

आलेख का शीर्षक	लेखक का नाम	पृ. सं.
● प्रधान संपादक की कलम से ..... ब्रज और नज़ीर अकबराबादी	**नन्द किशोर पाण्डेय**	5–19
● संपादकीय	**ज्योत्स्ना रघुवंशी**	20–22
● अखंड भारत की उद्घोषिका है ब्रजभाषा	**नृत्यगोपाल शर्मा**	23–30
● संस्कृत वाङ्मय में ब्रज की उपस्थिति	**जगदीश प्रसाद शर्मा**	31–36
● सामान्य काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा	**प्रभात कुमार मिश्र**	37–46
● ब्रज की भक्तिकालीन हिंदी कविता	**सत्यप्रकाश पाल**	47–52
● ब्रज का भक्तिकालीन काव्य– कवितावली का संदर्भ	**के. श्रीलता विष्णु**	53–60
● अष्टछापी कवियों के साहित्य में ब्रज	**राजेश कुमार शुक्ल**	61–72
● ब्रज काव्य में महाकवि सूरदास	**प्रतिभा चौहान**	73–77
● रीतिकालीन काव्य में ब्रज संस्कृति एवं भाषा का वैशिष्ट्य	**अरुण कुमार चतुर्वेदी**	78–84
● मध्यकालीन ब्रजभाषा के विकास में रीतिमुक्त कवियों की भूमिका	**कंचन सिंह**	85–91
● गद्य के विकास में ब्रजभाषा का योगदान	**नीरज शर्मा**	92–100
● ब्रज की कृषि एवं वर्षा विषयक कहावतें और विज्ञान	**हरिमोहन**	101–112
● ब्रज की रासलीला : पाँच शताब्दियों का सफर	**उषा यादव**	113–120

आलेख का शीर्षक	लेखक का नाम	पृ. सं.
● लोक साहित्य में ब्रज की उपस्थिति	**यशवंत सिंह**	121–125
● ब्रज के लोकगीत	**संध्या द्विवेदी**	126–134
● ब्रज साहित्य में महिलाओं की उपस्थिति	**नीलम राठी**	135–145
● आरंभिक आधुनिक काल का ब्रजभाषा साहित्य	**आशीष सिसोदिया**	146–152
● साक्षात्कार : ब्रज की लता पता मोहि कीजै	**नंद किशोर पाण्डेय** **प्रस्तुति : पीयूष कुमार द्विवेदी**	153–169
	लेखकों के नाम व पते	170
	सदस्यता फार्म	171

प्रधान संपादक की कलम से .....

ब्रज और नज़ीर अकबराबादी

नज़ीर अकबराबादी का जन्म सन् 1735 ई. को दिल्ली में हुआ था। कुछ विद्वानों का मानना है कि नज़ीर का जन्म आगरा में हुआ था। उनका स्वर्गवास 1830 ई. में आगरा में हुआ था। नज़ीर का नाम मुहम्मद था, उपनाम नज़ीर था। निवास स्थान आगरा था जिसका एक नाम अकबराबाद भी कभी प्रचलन में था। उन्होंने अपने नाम में स्थान के नाम को जोड़ा और नज़ीर अकबराबादी नाम से प्रसिद्ध हो गए। इनके पिता पटना में किसी रईस के यहाँ नौकरी करते थे। माँ आगरा की थीं। इस दृष्टि से नज़ीर की ननिहाल आगरा थी। नज़ीर की शिक्षा आगरा में हुई। शुरू में इन्होंने उर्दू, अरबी, फारसी की पढ़ाई की। अपनी रुचि से संस्कृत सीखी। भाषा सीखने में नज़ीर अकबराबादी की बहुत रुचि थी। ब्रजभाषा के अतिरिक्त नज़ीर को छह–सात भाषाएँ आती थीं। वे अरबी, फारसी, उर्दू, संस्कृत, पंजाबी, मारवाड़ी, पूर्वी और हिंदी के जानकार थे। नज़ीर का विवाह आगरा में तहव्वरुन्निसा बेगम के साथ हुआ था। मियां नज़ीर आगरा के ताजगंज में रहते थे। उनके एक पुत्र और एक पुत्री थी। नज़ीर का प्रारंभिक जीवन आम बच्चों की तरह ही बीता। अनेक प्रकार के खेल–कूद के अलावा उनकी रुचि बुलबुल और तीतर लड़ाने में थी और उन्होंने कबूतर भी खूब उड़ाए, जुआ खेला और पतंगबाजी की। अनेक प्रकार के जानवरों को पाला। बाल्यावस्था बीतने के बाद नज़ीर अकबराबादी ने मथुरा में कहीं पर पढ़ाने की नौकरी की। कुछ दिनों तक उन्होंने नवाब मुहम्मद अली खाँ के बच्चों को भी पढ़ाया। आगरा में उन्होंने राजा विलासराय के बच्चों को सत्तरह रुपए महीने पर पढ़ाया था। इसके अतिरिक्त एक समय का भोजन वहीं करते थे। ताजगंज से विलासराय के यहाँ घोड़ी से आते–जाते थे।

अपनी रचनाओं के कारण पूरे शहर में नज़ीर अकबराबादी बहुत लोकप्रिय हो गए थे। सड़कों पर आते–जाते लोग उनको रोककर उनसे कविता सुनाने का आग्रह करते थे। घर से निकलते ही, उनको लोग सलाम करने लगते थे। लोग उनको रास्ते में रोककर खड़े हो जाते थे। बताते हैं कि लोगों के सलाम करते ही उनकी घोड़ी भी खड़ी हो जाती थी। कुछ लोग तो उनकी कविताओं को गा–गाकर अपना सामान बेचते थे। आगरा नज़ीर का प्रिय शहर था। वे आगरा से बाहर बहुत कम गए। मथुरा और वृंदावन से उनका संबंध था। नज़ीर ने सामान्य जिंदगी बितायी,

स्वाभिमानी इतने कि नवाबों, रईसों, राजाओं की प्रशंसा में कविताएँ नहीं लिखीं। उनकी कविताएँ अधिकांश जनता के लिए हैं, कृष्ण कन्हैया के लिए हैं, जनता के त्योहार, मेले और विभिन्न देवी–देवताओं की स्तुतियों के लिए हैं। बहुत–सी सूफियाना नज्में भी हैं।

नज़ीर अकबराबादी की लोकप्रियता का बड़ा आधार उनकी रचनाओं में विविधता तथा मुसलमान होकर हिंदू देवी–देवताओं का स्तुतिपरक वर्णन तथा हिंदू पर्व, त्योहारों का डूबकर वर्णन करना है। मनुष्य की सत्ता और आदमियत की संवेदना को नज़ीर बहुत करीब से पहचानते थे। भारतीय संदर्भों में भारतीय जन की चेतना से परिचित थे। आदमी में चाहे लाख बुराइयाँ हों, मुसीबत में आदमी–आदमी को ही पुकारता है। दौड़कर आदमी ही आता है–

"यां आदमी पे जान को वारे है आदमी।
और आदमी पे तेग को मारे है आदमी॥
पगड़ी भी आदमी की उतारे है आदमी।
चिल्ला के आदमी को पुकारे है आदमी॥
और सुन के दौड़ता है सो है वह भी आदमी॥"

गणेश की स्तुति हिंदी के बड़े कवियों ने विशेषकर भक्तिकालीन और रीतिकालीन ने रचना के प्रारंभ में अवश्य की हैं। कई कवियों ने बीच–बीच में प्रसंगानुसार तथा स्वतंत्र पदों में भी योजनापूर्वक गणपति को याद किया है। एक साथ तेरह छंदों की गणेश स्तुति कहीं देखनी हो तो नज़ीर अकबराबादी की कविता पढ़नी पड़ेगी। प्रत्येक छंद में गणेश के स्वरूप को अलग–अलग तरीके से याद किया गया है। चित्रात्मकता, शब्द संयोजन, तुक, भाषा प्रवाह और रागात्मकता रचना की दृष्टि से इस कवि को प्रौढ़ बनाती है। गणेश को स्मरण करते हुए कवि माथे पर अर्धचंद्र की शोभा, एकदंत, गजमुख, चार भुजा, सभी हाथों में धारण की हुई वस्तुएँ, विशाल नयन, बड़ी तोंद, साथ में खड़ी सरस्वती, मूषक सवारी, मोतीचूर का लड्डू, घी में मिलाकर चढ़ाया हुआ सिंदूर, दीपक–कपूर, मुकुटमाला आदि को क्रमशः याद करते हैं। उन्होंने शिव और गौरी के लाल को रिद्धि–सिद्धि का प्रदाता बताया है और उनकी स्तुति कर्ताओं में सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, नारद, शेषनाग, सनकादिक, ब्रह्मा, योगी, यति, सुर, नर, मुनि को बताया है। कवि कहता है कि गणेश रिद्धि–सिद्धि तो देंगे ही, पहले पूजन और ध्यान तो कीजिए–

"अव्वल तो दिल में कीजिए पूजन गणेश जी।
स्तुति भी फिर बखानिए धन–धन गनेश जी।

भक्तों को अपने देते हैं दर्शन गनेश जी।

वरदान बख्शते हैं जो देवन गनेश जी।

हर आन ध्यान कीजिए सुमिरन गनेश जी।

देवेंगे रिद्धि सिद्धि औ अन–धन गनेश जी॥"

शरणागत का उद्धार करना, रक्षा करना तथा उसके सभी प्रकार के कष्टों को दूर करना ईश्वर की प्रतिज्ञा के अंतर्गत आता है। नज़ीर अकबराबादी को यह भरोसा है कि गणेश ने अपनी शरण में आए हुए लोगों को सनाथ किया है–

"जो जो शरन में आया है कीन्हा उसे सनाथ।

भव सिंधु से उतारा है दम में पकड़ के हाथ।

यह दिल में ठान अपने और छोड़ सबका साथ।

तू भी 'नजीर' चरणों में अपना झुका के माथ।

हर आन ध्यान कीजिए सुमिरन गनेश जी।

देवेंगे रिद्धि सिद्धि औ अन–धन गनेश जी॥"

नज़ीर ने 'हरि की तारीफ' शीर्षक से कविता लिखी है। इस कविता में विभिन्न प्रकार से ईश्वर की प्रशंसा की गयी है। नज़ीर कहते हैं वह सबके भीतर निवास करता है। सारा संसार उसी के द्वारा निर्मित है। संपूर्ण ब्रह्मांड तथा दृश्यमान मंदिर उसी का संवारा हुआ है। उसी की बनायी हुई पूरी सृष्टि है। उसने बड़े–बड़े अहंकारियों के अहंकार को मिटाया है। हरि के नाम का स्मरण करने वाला लौकिक और अलौकिक दोनों सुखों को प्राप्त करता है। नाम का स्मरण करने वाला अटल पदवी को पाता है और बैकुंठ में वास को प्राप्त करता है। वह हर प्राणियों के हृदय में विराजमान हैं। कहते हैं कि तुम उस हरि को अपने भीतर देखो और उसकी पूजा करो। वे नाम स्मरण और नाम उच्चारण की महिमा का बखान भी करते हैं। उन्होंने याद किया है–अजामिल, गणिका, रैदास, सदना, तथा ध्रुव को जिन लोगों ने हरि के नाम का स्मरण करके यश और हरि के सानिध्य को प्राप्त किया। स्वयं को भी वे कहते हैं कि नज़ीर तुम भी उसे याद करो, तुझे भी उसका सहारा मिलेगा–

"लिया था नाम अजामिल गनिका और रैदास सदना ने।

बताऊं साख में क्या क्या उन्होंने सब को तारा है॥

जो आकर नाम से लागा वही एक दम में पहुंचा है।

वगरना देख लें चमके है हर दम ध्रुव सितारा है॥

उसी का ध्यान धर हर दम 'नज़ीर' और याद में रह तू।

उसी हरि का तुझे भी देखियो यां वां सहारा है॥"

नज़ीर ने 'हरि जी का सुमिरन' कविता भी लिखी है। नज़ीर का समय हिंदी साहित्य की दृष्टि से रीतिकाल का उत्तरार्ध है। कालखंड की दृष्टि से इसे हम रीतिकाल कहते हैं। भक्ति कविता के बड़े कवि अठारहवीं शताब्दी में हुए। बिहार वाले दरिया साहब का समय 1664 ई. से 1780 ई. बताया जाता है। दरिया निर्गुण धारा के कवि हैं। उन्होंने नाम स्मरण पर बल दिया है। जगजीवनदास ने सतनामी संप्रदाय प्रारंभ किया। इनकी परंपरा में कई बड़े संत हुए जो नाम उपासना की बात करते हैं। चरणदास अलवर के निवासी थे। इन्होंने चरणदासी संप्रदाय चलाया। बलिया जिले के शिवनारायण का समय लगभग वही है, जब नज़ीर आगरा में लिख रहे थे। तुलसी साहब 'पूना के युवराज' से विरक्त होकर हाथरस आ गए थे। इनका समय भी प्रायः वही है जो नज़ीर साहब का है। ये कवि निर्गुणधारा की कविताएँ लिख रहे थे। नज़ीर अकबराबादी ने सगुण हिंदू देवी–देवताओं की उपासना, पूजा, महत्व, स्वरूप वर्णन और प्रार्थना के पदों को लिखा। ये उल्लेखनीय है कि वे जब भी हरि के नाम का सुमिरन करते हैं तो अपने पूर्व के भक्तों का स्मरण करते हैं। निर्गुण संतों में कबीर, रैदास और सदना और धन्ना भगत की प्रतिष्ठा परवर्ती कवियों के मन में स्थापित हो गई थी। इनकी रचनाओं में अरबी, फारसी की शब्दावली स्थान–स्थान पर मिलती है। यह स्वाभाविक भी है। इनकी पढ़ाई–लिखाई की शुरूआत इन्हीं भाषाओं से हुई थी। वे शंख, पदम्, चक्र, गदा, बांसुरी युक्त हरि का सुमिरन करने के लिए कहते हैं। उन्होंने ध्यान किया है, प्रह्लाद को, नामदेव, मीरा को, सुदामा को, अजामिल को जिनके सारे संकट हृदय से प्रभु का नाम स्मरण करने के कारण दूर हो गए थे। वे दिल से चतुर्भुज हरि का स्मरण करने के लिए इसलिए भी कहते हैं कि उनके भीतर बांसुरी की आवाज सुनाई पड़ती है। नज़ीर की पंक्तियाँ हैं–

"शंख पद्म युक्त चक्र गदा बिरजें हाजरी।
करती है मेरे दिल में जो आवाज बाँसुरी।
कहता है लालजी वो बरहमन घड़ी–घड़ी।
रख याद दिल से नाम चतुर्भुज हरी–हरी।
सब काम छोड़ नाम चतुर्भुज का लीजिए।
जो दम है जिन्दगी का सुमिरन में दीजिए।"

नज़ीर अकबराबादी ब्रज मंडल से थे। इसलिए कृष्ण कन्हैया की प्रशंसा उनकी कविताओं में बार–बार देखी जा सकती है। कृष्ण की प्रशंसा करने के लिए किसी कवि का ब्रज में होना और उसमें भी मुस्लिम कवि के द्वारा कृष्ण का स्मरण करना आकस्मिक नहीं है। निश्चित रूप से इसके लिए नज़ीर का विरोध हुआ होगा।

हम ये नहीं कह सकते कि उस समय के मुस्लिम समाज ने यह स्वीकार कर लिया होगा कि सगुणत था अवतारी भगवान की उपासना इस्लाम के लिए ठीक है। ये नज़ीर की ताकत थी या उनकी सामाजिक स्वीकार्यता थी कि इसके बावजूद लोग उनको रोक–रोककर सुनते थे। जिस धर्म में मूर्ति पूजा का घोर–विरोध हो, उस उपासना पद्धति को मानने वाला अवतारी कृष्ण के प्रसंगों के गीत अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गा रहा था। निर्गुण राम का भजन तो कई मुस्लिम संतों ने किया है। उनके लिए कई बार ये तर्क गढ़ लेते हैं कि वे सद्यः धर्मांतरित थे। नज़ीर जैसे कवियों को पढ़ने तथा ध्रुपद गायकी के पूरे इतिहास को खंगालने से यह धारणा दृढ़ होती है कि धर्मांतरित हुआ हो या न हुआ हो या भले ही बहुत पहले ही धर्मांतरित हो गया हो। राम–कृष्ण उसके हृदयों से गए नहीं। गीतों में गणेश और सरस्वती की वंदना ज्ञान और स्वर के लिए होती ही रही। उस समय के मुस्लिम कवियों को पढ़ते हुए लगता है कि उनके मन में अपने ही धर्मावलंबियों का भय कम था या उन लोगों ने भी मान लिया था कि, करने दो इसको बुतपरस्ती, गाने दो अवतारों का गीत, याद करने दो उनके प्रभुत्व और प्रभाव को, वे भी अपने ही थे। नज़ीर किसी भी भक्त कवि की तुलना में कृष्ण के अधिक भक्त थे। तुलसीदास स्वयं को राम गुलाम कहते हैं। नज़ीर अपने आपको कृष्ण का दास बतलाते हैं–

"कहता नज़ीर तेरे जो दासों का दास है।
दिन रात उसको तेरे चरनों की आस है।
ना समुझे एक तेरे ही से नित विलास है।
गुन गाए से तेरा हिये हरदम हुलास है।
तारीफ कहो कृष्ण कन्हैंया की क्या लिखूँ॥"

कृष्ण के सौंदर्य पर वे रीझे हुए हैं। सूर्य और चाँद में कृष्ण के सौंदर्य को देख रहे हैं। सौंदर्य को याद करते हुए वे ग्वाल–बालों को नहीं भूलते। कृष्ण ग्वाल–बालों का है। सारी दुनिया का है। वह अपने सौंदर्य में अद्वितीय है। उसकी प्रकृति सबमें बस जाने की है। सबका हो जाने की है–

"खुर्शीद में जलवा चांद में भी।
हर गुल में तेरे रुख़सार की बू।
घूंघट जो खुला सखियों ने कहा।
ऐ सल्ले अला,
अल्लाहो ग़नी, अल्लाहो ग़नी।
दिलदार, ग्वालों बालों का।

और सारे दुनियांदारों का।

सूरत में नबी सीरत में खुदा।

ऐ सल्ले अला,

अल्लाहो ग़नी, अल्लाहो ग़नी।"

नज़ीर अकबराबादी ने एक कविता गुरुनानक देव पर 'गुरुनानक शाह' शीर्षक से लिखी। इस कविता में नज़ीर ने गुरुनानक के यश और उनके गुरुत्व को याद किया है। कवि ने गुरुनानक देव के प्रभाव की भी चर्चा की है। गुरु का नाम लेने वाला सुख और चैन से रहता है। इनकी शरण में जाने वाला दुखी नहीं होता है। जो अपने दिल की अच्छाइयों को उनके पास रखता है, उनके दुख दूर होते हैं। वे सुखपूर्वक इस संसार में रहते हैं। वे जनता से तथा संतों से कहते हैं कि सब लोग शीश झुकाकर गुरुनानक देव की प्रार्थना करो। हमेशा वाहे गुरु का जयघोष करो–

"जो हरदम उनसे ध्यान लगा उम्मीद करम की धरते हैं।

वह उन पर लुत्फों इनायत से हर आन तवज्जो करते हैं।

असबाब खुशी और खूबी के घर बीच उन्हीं के भरते हैं।

आनन्द इनायत करते हैं सब मन की चिन्ता हरते हैं।

इस बख़्शिश के इस अज़मत के हैं बाबा नानक शाह गुरु।

सब सीस नवा अरदास करो और हर दम बोलो वाह गुरु॥"

'दुर्गा जी के दर्शन' कविता नज़ीर अकबराबादी ने दुर्गा जी के मेले में सुनाई थी। यह पूरी कविता दुर्गा जी की प्रार्थना में तो लिखी ही गई है, इसमें मेले के सौंदर्य और काशी नगर की भी प्रशंसा है। काशी नगरी ज्ञान और दानियों का तीर्थ है। काशी में बसने की इच्छा रखने वालों और उसके लिए तरसने वालों की वे बात करते हैं। देवी की मूर्ति के सौंदर्य, पूजा, घंटे की ध्वनि का वर्णन वे करते ही हैं, मन्नत मांगने वालों की मनोकामनाएँ पूरी होती हैं, उनकी चिंताएँ दूर होती हैं, सेवकों की मनोकामनाएँ पूरी होती हैं, सभी कार्य संवर जाते हैं इस बात को बताना वे नहीं भूलते। उस मूर्ति के दर्शनार्थी और पुजारियों का मन किस प्रकार से हर्षित होता है, उस हर्ष का भी उल्लेख अपनी कविता में करते हैं। स्त्री–पुरुषों का दल, मंदिर में दर्शन के लिए उत्साह के साथ पहुँचता है। मंदिर के आस–पास के बगीचे लोगों से भर जाते हैं। दुर्गा मंदिर के मेले में लोग अपने मन के रंग को भूल जाते हैं। चारों ओर चुहलबाजी होती है। आनंद से सब लोग घूमते–फिरते हैं। दुर्गा जी की महिमा ऐसी है कि दर्शनार्थियों का समय प्रसन्नतापूर्वक बीतता है। दुर्गा दर्शन की ये कविता मानो देवी की आरती है–

"जो मेहेर सुने उस देवी की, वह दूर दिशा से धावत हैं।
जो ध्यान लगाकर आवत है, सब वाकी आस पुजावत हैं।
जब किरपा वा की होवत है, सब वाके दरसन पावत हैं।
मुख देखत ही वा मूरति का, तन मन से सीस नवावत हैं।
परसंद बहुत मन होते हैं, यह रीत रची है हरसन की।
तारीफ कहूं मैं क्या क्या कुछ, अब दुर्गा जी के दरसन की॥"

नज़ीर की दृष्टि दुर्गा जी के मेले में बिकने वाली वस्तुओं पर है। वस्तुओं की चमक पर, पोशाकों पर है, मेले वालों के सौंदर्य पर है, लोगों की निगाहों पर है। उन्होंने मेले के सौंदर्य, दुर्गा के प्रति लोगों की आस्था काशी की महिमा को समेटे हुए 'दुर्गा जी के दर्शन' कविता को रचा है–

"जो चीजें मेलों में बिकती हैं, सब उस जा आन झमकती हैं।
पोशाकें जिनकी ज़र्री हैं, वह तन पर खूब झलकती हैं।
महबूबों से भी हुस्नों की, हर आन निगाहें तकती हैं।
लूं नाम 'नज़ीर' अब किस–किस का, जो खूबियां आन झमकती हैं।
परसंद बहुत मन होते हैं, यह रीत रची है हरसन की।
तारीफ कहूं मैं क्या क्या कुछ, अब दुर्गा जी के दरसन की॥"

जीवन की नश्वरता को लेकर लिखी गई उनकी कविता 'बंजारानामा' नामक खूब पढ़ी गई और गायी गई, लेकिन कम गुनी गई। गुनी गई होती तो जीवन के अहंकार संग्रह की मनोवृत्ति, दिखावे की लालसा, तेरा–मेरा का भाव तथा दुनियावी झगड़े कम हो गए होते। अपनी तेरह छंदों की कविता में आँखों में उंगली डालकर नज़ीर ने दुनिया के सच को दिखलाया है। नज़ीर ने बताया कि भौतिक प्रतिष्ठा के और विलासिता को सारा साजो–समान पड़ा रह जाएगा, जब बंजारा लाद चलेगा। धन–दौलत नाती–पोता सहित सारा कुनबा, डेरा–डंडा, बंदूक, खांडे, हलवा, माड़, बेटा–बेटी, थाल–कटोरे, सोने–चांदी के बर्तन, अटारी,–चौपारी तनसुख, मलमल, चिलमन, पर्दे, फर्श, लाल पलंग, रंग महल, मसनद, तकिया, चौकी, कुर्सी, तख्त, छत्र, कीमती वस्त्र, जेवर, हाथी घोड़े, भाले–तलवार, हीरे–मोती के खजाने, शाल–दुशाले, किला बुर्ज, कंजुए, लवड़ी, बांदी, दाई, मंदिर, मस्जिद, कुंआ, ताल, खेती–बाड़ी, बाग–बगीचा यह सब ज्यों का त्यों यहीं धरा रह जाएगा। इसलिए पहली ही पंक्ति में वे लालच छोड़कर मारे–मारे फिरने की आदत पर रोक लगाते हैं। उन्होंने चेताया कि अंत में इन भौतिक वस्तुओं में से कुछ भी बचता नहीं है। यह मरणधर्मा संसार है लेकिन मनुष्य जीवन भर यह मानकर सब कुछ समेटता रहता है

कि ये सब वस्तुएँ अनंत काल तक हमारे काम आएँगी। जहाँ बहुत पारिवारिक रिश्ते–नाते ही काम नहीं आते हैं, वहाँ सारी दुनिया को निजी उपभोग के लिए समेटने की लालसा कितनी हास्यास्पद और नश्वरता की ओर नजदीक बुलाने वाली है। एक–एक कर गिनती करते हुए नज़ीर ने इस दुनिया को चेताया–

"जब चलते–चलते रस्ते में यह गौन तेरी ढल जावेगी।
एक बधिया तेरी मिट्टी पर, फिर घास न चरने आवेगी।
यह खेप जो तूने लादी है, सब हिस्सों में बँट जावेगी।
धी, पूत, जमाई, बेटा क्या, बंजारिन पास न आवेगी।
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बंजारा॥
× × × × × × × × × × × × × × × × ×
कुछ काम न आवेगा तेरे, यह लालो–ज़मर्रुद सीमो–ज़र।
जब पूंजी बाट में बिखरेगी, फिर आन बनेगी जां ऊपर।
नौबत, नक्कारे, वान निशां, दौलत हश्मत, फौजें लश्कर।
क्या मसनद तकिया, मुल्क मकां, क्या चौकी, कुर्सी, तख्त छतर।
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा, जब लाद चलेगा बंजारा॥"

नज़ीर ने त्योहार और मेलों को केंद्र में रखकर लगभग तीन दर्जन कविताएँ लिखी हैं। कविताएँ हिंदू और मुस्लिम दोनों धर्मों के त्योहारों पर हैं। उन्होंने शब्बरात और ईद के साथ ही ईदगाह, अकबराबाद पर भी कविताएँ लिखी हैं। ईदगाह का, ईदगाह में मिलन का, पहनावे का, प्रोत्साहन–आत्मीयता का तथा वेश–भूषा का जितना बारीक वर्णन नज़ीर ने किया है वैसा खड़ी बोली हिंदी कविता में किसी अन्य कवि ने नहीं किया। इस कविता में टोपी के साथ ही ज़री और चांदी के तारों के बुने गए कपड़ों की चर्चा है। ईदगाह में खुशियों के कितने रंग है, उसको एक–एक शब्दों में कवि ने सहेजा है। शब्दावली वह है जो वस्त्रों के साथ ही ठीक बैठती है–

"पहने फिरें हैं शोख कड़े और हंसलियां।
फूलों की पगड़ियों में हैं शाखें उड़सलियां।
कमरें सभों ने मिलने की खातिर हैं कस लियां।
मिलते हैं यूं कि छाती की कड़के हैं पसलियां।
क्या–क्या मज़े हैं ईद के आज ईदगाह में॥"

केवल होली पर लगभग बीस से अधिक कविताएँ इन्होंने लिखीं। होली से संबंधित रचनाओं में कवि ने नृत्य, गीत, वाद्ययंत्र, प्रेम, रंग–गुलाल, तरह–तरह के कपड़ों के वर्णन के साथ ही सुगंधित अबीर के उन प्रकारों को भी याद किया है जो

वृंदावन के मंदिरों में कृष्ण के साथ होली खेलने के लिए कृष्णभक्त के संप्रदायों द्वारा विशेष रूप से बनायी जाती थीं। विभिन्न प्रकार का स्वांग बनाकर घूमती हुई टोली भी कवि के ध्यान में है। प्यार की गाली को बुरा मानना तो दूर लोग उसकी अभिलाषा रखते थे। गालियों को हँस–हँसकर सहना, कपड़ों से रंग का बहना, मुँह में गुलाल लगाकर उसे प्यार से देखना दोनों ओर से रंगों को लेकर एक–दूसरे को लगाने के लिए आगे बढ़ना, मन में किसी अपने के हाथ से पिचकारी से रंग का लग जाना और इस दृश्य को देखने की तमन्ना होली का शृंगार है। होली के विभिन्न दृश्य माहौल को रंगीन बनाते हैं ऐसे कितने ही बिंब नज़ीर की कविता में हैं। वाद्ययंत्रों की ध्वनियों का रंग कुछ अलग ही है। उसमें घुंघरू की झंकार है। सारंगी और तंबूरे का स्वर है। तबलों की ताल है। ढोलक और मृदंग की आवाज है, तो नाचों के तार भी उसमें बंधे हुए हैं। नज़ीर की दृष्टि मैखानों में मस्त पड़े लोगों पर भी है। नशे में चूर लोगों ने भांग के गोले भी जमा रखे हैं। शराब की बोतलें, सुराही है और उसके साथ ही छोटी गगरी भी है। डफली और मुरचंग जैसे देशी वाद्ययंत्रों की भी बहार है। होली के अवसर पर नृत्य के शास्त्रीय और देशी बहुत से प्रकार दिखलाई पड़ते हैं। कई अलग–अलग भावों का नृत्य होता है तो कहीं तवायफें नाचते हुए दिखती हैं। नज़ीर की होली में पूरी गलियाँ और बाजार सुंदरियों से भरी हुई हैं। सबके ऊपर गुलाल और पिचकारी के रंग उड़ रहे हैं। जहाँ तक नजर जाती है वहाँ तक रंगों की बौछार है, कोई किसी पर रंग डालकर भाग रहा है, कोई दौड़ा रहा है, कोई गालों पर गुलाल मल रहा है, कोई बाल पकड़कर रंग लगाता है। होली सभी प्रकार की दूरियों को मिटा देती है। यह कामना भी कवि की है–

"मियां तू हमसे न रख कुछ गुबार होली में।
कि रूठे मिलते हैं आपस में यार होली में।
मची है रंग की कैसी बहार होली में।
हुआ है ज़ोरे चमन आश्कार होली में।
अजब यह हिन्द की देखी बहार होली में॥"

नज़ीर की कई कविताएँ दीवाली पर हैं। दीवाली के सजे हुए बाजार को नज़ीर ने अपनी कविता का विषय बनाया है। इस त्योहार में कोई नगद ले रहा है तो कोई उधार। खास तरह की मिठाइयाँ हैं। विशेष तरह के खिलौने हैं। खीलों और बताशों से बाजार भरा हुआ है। मिट्टी के खिलौने और दीपक लोग बाजारों से खरीद रहे हैं। घरों में सिवइयाँ, गुझियाँ और मठरी पक रही हैं। पूजा करके प्रसन्नता के साथ लोग दीपक जला रहे हैं। दीवाली के त्यौहार पर तरह–तरह के कीमती कपड़ों की भी बहार है। दुशाला, शॉल, जरी, ताश तथा बादला का कपड़ा सेठों और साहूकारों के

यहाँ दिख रहा है। चिराग से घर–गुलज़ार है और सामने दीवाली का एक बाग खिला हुआ है। दीवाली के बाजार का जितना विस्तृत और सूक्ष्म चित्रण नज़ीर अकबराबादी ने किया है, वैसा वर्णन हिंदी कविता में किसी अन्य कवि ने नहीं किया है। दीवाली को देखने की जनदृष्टि क्या हो सकती है? यह नज़ीर अकबराबादी की कविता को पढ़े–समझे बिना नहीं समझा जा सकता है। सामानों के भाव क्या थे, कितना पैसा देना पड़ता था? उस समय भारतीय पैसे दमड़ी, दाम, अधेला, धेला, अशर्फी, कौड़ी, मुहर आदि नामों से पुकारे जाते थे, यह जानकारी नज़ीर की कविता पढ़कर होती है। मिठाइयों की दुकानों में इलायची दाने हैं, तो बालूशाही, मोहनभोग, रेवड़ी और मगध के, मूंग के लड्डू भी। तब की ब्रज की मिठाइयों का स्वाद भी पाठक नज़ीर की दीवाली कविता के साथ ले सकता है–

"जो बालूशाही भी तकिया लगाए बैठे हैं।
तो लौंज खजले यहीं मसनद लगाए बैठे हैं॥
इलायची दाने भी मोती लगाए बैठे हैं।
तिल अपनी रेबड़ी में ही समाए बैठे हैं।
खिलौने नाचें हैं तस्वीरें गत बजाती हैं।
बताशे हंसते हैं और खीलें खिलखिलाती हैं॥"

नज़ीर अकबराबादी ने मेलों पर कविताएँ लिखी हैं। इन कविताओं में हैं–हज़रत सलीम चिश्ती का उर्स, बल्देव जी का मेला, कंस का मेला तथा लल्लू जगधर का मेला। इन मेलों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है। मथुरा के पास बल्देव जी का मंदिर है। यह स्थान भी बल्देव नाम से प्रसद्धि है। यहाँ अगहन महीने की पूर्णिमा के दिन बल्देव जी का मेला लगता है। वहाँ बलराम और उनकी पत्नी रेवती जी का मंदिर है। मेले की भीड़–भाड़ से लेकर वहाँ की दुकानों और मंदिरों तक का वर्णन इस कविता में है। यह पूरा वर्णन उस क्षेत्र को जीवंत करता है। नज़ीर के जमाने में मेलों की चमक–दमक, आस्था, सौंदर्य, अगल–बगल के गांवों के लोगों का मेल–जोल, गाना–बजाना, हाट बाजार की शोभा और समृद्धि जानने समझने के लिए यह कविता पढ़नी पड़ेगी। बल्देव में कितने देवता हैं, इसकी सूचना भी इस कविता से मिलती है–

"हैं कहीं राम, और कहीं लक्ष्मन।
कहीं कछमछ है और कहीं रावन।
कहीं बाराह, कहीं मदनमोहन।
कहीं बल्देव और कहीं श्रीकिशन।
सब सरूपों में हैं उसी के जतन।

कहीं नरसिंह हैं वह नारायन।

कहीं निकला है सैर को बनबन।

कहीं कहता फिरे हैं यूं बन–बन।

रंग है, रूप है झमेला है।

ज़ोर बल्देव जी का मेला हैं॥"

नज़ीर ने कबूतरबाजी, बुलबुलों की लड़ाई, बया, गिलहरी का बच्चा, रीछ का बच्चा, अजदहे का बच्चा पर भी कविताएँ लिखी हैं। प्राकृतिक विषयों पर भी बहुत–सी कविताएँ नज़ीर की हैं। रात, बहार, चांदनी, चांदनी रात, अंधेरी रात, आंधी, शबे ऐश (झड़ी), बरसात का तमाशा, बरसात और फिसलन, बरसात की बहारें आदि। हिंदी कविता में प्रकृति का वर्णन छायावाद के पूर्व बहुत कम हुआ है। रीतिकाल में सेनापति जैसे कवियों ने प्रकृति पर स्वतंत्र रूप से कविताएँ लिखी थीं। नज़ीर अकबराबादी ने रीतिकाल के उत्तरार्ध में रीतिकालीन प्रवृत्तियों से दूर खड़ी बोली में लगभग एक दर्जन विषयों को केंद्र में रखकर कविताएँ लिखीं। केवल बसंत पर उनकी ग्यारह कविताएँ मिलती हैं। खड़ी बोली में फारसी शब्दावली से युक्त ये कविताएँ कुछ अलग रंग की हैं। जिसमें महफिल है, सुरीले गान हैं, शराब है, खास तरह की नज़ाकत है, फूलों से भरी डालियां हैं, सुंदर पोशाक हैं, सरसों की डालियां हैं, गजरे हैं, गले में हार है, आँखों का नशा है, राग–बसंती है, बसंती लिबास में सजा हुआ सौंदर्य है, लहराते हुए वृक्ष हैं, चिड़ियाँ हैं। आम कामगार हैं, तवायफों का नाच–गान है, गेहूँ की बालियों की समृद्धि है तथा चारों ओर बसंत की खबर लेने की चाह है। कवि बसंत को अपने इर्द–गिर्द महसूस करता है और उसको अपने प्रियजनों में बांटना चाहता है–

"मिलकर सनम से अपने हंगाम दिल कुशाई।

हंसकर कहा यह हमने ऐ जां! बसंत आई।

सुनते ही उस परी ने गुल गुल शगुफ्ता होकर।

पोशाक ज़र फ़िशानी अपनी वो ही रंगाई।

जब रंग के आई उसकी पोशाक पुर नज़ाकत।

सरसों की शाख पर गुल फिर जल्द एक मंगाई॥"

नज़ीर अकबराबादी ने बड़ी संख्या में सूफियाना नज़्में लिखी हैं। इसमें आशिकों की भंग इश्क़ की मस्ती, दुनिया बदले की जगह है, दुनिया भी क्या तमाशा है, खुदा की बातें खुदा ही जाने, गफ़लत का ख्वाब, फ़ना, मौत की फिलासफ़ी आदि। 'इश्क़ की मस्ती' कविता अपनी रवानगी, फक्कड़पन अंदाज, गेयात्मकता, सही तुकबंदी

और शब्द संयोजन के कारण लोगों की जुबान पर चढ़ी। दुनिया के तमाम दुःख, लालच, तमन्नाओं के बीच केवल दिलवर की चाह और उसके आगे किसी की चाहत नहीं। कुछ जोर नहीं, जुल्म नहीं, कोई फरियाद नहीं, शागिर्द भी नहीं, उस्ताद भी नहीं तो उसमें फकीर की मस्ती आना स्वाभाविक ही है। नज़ीर लिखते हैं–

"है चाह फ़क़त एक दिलबर की फिर और किसी की चाह नहीं।
एक राह उसी से रखते हैं फिर और किसी से राह नहीं।
यां जितना रंजो तरद्दुद है हम एक से भी आगाह नहीं।
कुछ करने का सन्देह नहीं, कुछ जीने की परवाह नहीं॥
हर आन हंसी, हर आन खुशी, हर वक़्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक़ मस्त फ़कीर हुए फिर क्या दिलगीरी है बाबा॥"

बहुत व्यावहारिक धरातल पर लिखी गई कविता है–'दुनिया बदले की जगह है।' दुनिया में व्यक्ति जैसा करता है उसको फल वैसा मिलता है। बुरे कर्मों के परिणामों से सिलसिलेवार ढंग से नज़ीर ने बताया है और आगाह भी किया है। जो दूसरे को पटकता है उसको कोई न कोई पटकने वाला मिल जाता है। जालिमों के रक्त से नदी–नाले बहते हैं। अच्छे और बुरे कर्मों के परिणाम मिलते हैं। नज़ीर कहते हैं देर भी नहीं है अंधेर भी नहीं है। जो गरीबों और बेचारों के निरर्थक हक छीनते हैं, जो झूठी बातें इधर–उधर लगाते हैं वे अपने आप ही लूटे जाते हैं और लाठी भी खाते हैं। जो दूसरों की पगड़ी उछालते हैं, जो दूसरों को झटका देते हैं, जो दूसरों को ठोकर मारते हैं उसके कार्यों के अनुरूप परिणाम मिलता है। अच्छे परिणामों की बात भी कवि ने की है। मान रखने वालों को मान मिलता है। पान खिलाने वाले को पान मिलता है। रोटी देने वाले को नान। एहसान मानने वाले का एहसान। दूसरे की जान बख़्शने पर मिलती है जान। दूसरे की आन रखने पर बचती है आन। कवि कहता है यह तो तुरंत–तुरंत का नक्शा है। मनुष्य को उसकी पहचान रखनी चाहिए। कई बार तो अदला–बदली में भी देरी नहीं लगती। इस हाथ देने से उस हाथ मिलती है। जो दूसरों को पार उतारता है उसे भी तो पार उतरना है–

"जो पार उतारे औरों को, उसकी भी पार उतरनी है।
जो ग़र्क करे फिर उसको भी यां डुबकूं डुबकूं करनी है।
शमशीर, तबर, बन्दूक, सिनाँ और नश्तर तीर, नहरनी है।
यां जैसी–जैसी करनी है फिर वैसी–वैसी भरनी है।
कुछ देर नहीं अंधेर नहीं, इन्साफ और अदल परस्ती है।
इस हाथ करो उस हाथ मिले, यां सौदा दस्त ब दस्ती है॥"

दुनिया के छलछद्मों को नज़ीर ने बहुत नजदीक से देखा था। सारे रिश्तों को समझा था। यह दुनिया अंततोगत्वा धोखे की टट्टी है। ताजतख़्तों, रंगीन कपड़े हों या गुदड़ी ओढ़े हों, सब एक जैसे ही हैं। दुनिया में बहुत से नाते–रिश्ते हैं। जब सबको खंगाल कर देखो तो पता चलता है कि कोई रिश्ता–नाता नहीं है। अलग–अलग तरह के पेशे से जुड़े हुए लोग हैं। सबकी अलग शानो–शौकत है। समृद्धि, विद्वान, चमत्कारी, जादू–टोना जानने वालों से लेकर बाग, कुंआ बनवाने वाले, परोपकारी लोग हैं लेकिन कुछ भी होने के बाजवूद हृदय में मलनिता न हो और सबके प्रति प्रेम और समानता का भाव हो ऐसा नहीं। चारों ओर कीचड़, पानी और मिट्टी है। नज़ीर के शब्दों में–

"कोई लूटे कूंचे गलियों में, तैयार किसी का डेरा है।
कोई बाग, कुआं बनवाता है और घेर किसी ने घेरा है।
नित किस्से झगड़े करते हैं, यह तेरा है यह मेरा है।
जब देखा खूब तो आखिर को ना मेरा है ना तेरा है।
गुल शोर बबूला आग हवा, और कीचड़ पानी मट्टी है।
हम देख चुके इस दुनियां को, यह धोके की सी टट्टी है॥"

नज़ीर की सबसे लोकप्रिय कविता–'बालपन–बाँसुरी बजैया का' है। यह कविता साधुओं फकीरों द्वारा गायी गयी। आठ पृष्ठों की लंबी कविता में कृष्ण का पूरा बालपन खड़ी बोली कविता में अभिव्यक्त हुआ है। बालपन तो सबका आता है। सबका ही होता है लेकिन कृष्ण का कुछ अलग था। उस बालपन के अंदाज ने जनता को लुभाया। कृष्ण राजा हुए, मुकुट धारण किए फिर भी उनकी स्मृति आते ही घर–घर में घूम–घूमकर माखन मलाई, दूध–दही खाने वाली कृष्ण की छवि सामने आती है। उन्होंने गोवर्धन उठाया। पांव में घुंघरू बाँधकर ठुमक–ठुमककर चले। घुटनों के बल चले, गोदियों में मचले, पालने में झूले और ब्रज को वंशी की मधुर ध्वनि से संगीतमय बनाया। मथुरा में पैदा हुए। गोकुल में नंदबाबा के घर पले। यशोदा माता ने पाला। घूम–घूमकर नाचते गाते रहे। ग्वालिनियों ने कृष्ण को देखने के बहाने, माखन देने के लिए बुलाती थीं और उनमें अलौकिक सौंदर्य को देखती थीं। उस बाल सौंदर्य का प्रभाव अलौकिक था। उस बाल सौंदर्य का कैसा आकर्षण और प्रभाव था, उसे नज़ीर के इस छंद में देखा जा सकता है–

"पाटी पकड़ के चलने लगे जब मदन गोपाल।
धरती तमाम हो गई एक आन में निहाल॥
बासुक चरन छूने को चले छोड़ कर पाताल।

आकास पर भी धूम मची देख उनकी चाल॥

ऐसा था बांसुरी के बजैया का बालपन।

क्या–क्या कहूं मैं किशन कन्हैया का बालपन॥"

नज़ीर अकबराबादी ने न केवल कृष्ण के बालस्वरूप में अवतारी कृष्ण का दर्शन किया अपितु स्वयं भी उनकी जय बोली। आगरा का मुस्लिम समाज कृष्ण और ब्रज से किस तरह जुड़ा हुआ था, वह नज़ीर के साहित्य से पता चलता है। इस्लाम के अनुयायी नज़ीर अकबराबादी ने मुगल साम्राज्य के हिंदू विरोधी शासक औरंगजेब की मृत्यु के थोड़े ही दिन बाद लिखना प्रारंभ किया था। हम ये नहीं कह सकते कि आगरा का पूरा मुस्लिम समाज हिंदू धर्म तथा हिंदू अवतारों के विरुद्ध खड़ा था। उन्होंने कृष्ण के लौकिक स्वरूप को देखा। उसका सुंदर वर्णन किया तथा उनके ईश्वरत्व को प्रणाम भी किया। वे बार–बार कृष्ण मुरारी की जय बोलते हैं और सबसे आग्रह करते हैं कि सब मिलकर जयकारा लगावें–

"सब मिलके यारो किशन मुरारी की बोलो जै।

गोबिन्द छैल कुंज बिहारी की बोलो जै॥

दधिचोर गोपी नाथ, बिहारी की बोलो जै।

तुम भी 'नज़ीर' किशन बिहारी की बोलो जै॥

ऐसा था बांसुरी के बजैया का बालपन।

क्या–क्या कहूं मैं किशन कन्हैया का बालपन॥"

नज़ीर की एक लंबी कविता है 'महादेव जी का ब्याह।' यह लगभग 17 पृष्ठों की कविता है। शिव के विवाह के प्रसंग को लेकर आधुनिक काल में किसी कवि ने इतनी लंबी कविता नहीं लिखी है। विवाह के एक–एक प्रसंग का विस्तारपूर्वक वर्णन कवि ने किया है। महादेव के विवाह पर यह कविता लिखी गयी है इसलिए इसकी शुरूआत गणेश वंदना से की गई है। शिव पार्वती के विवाह के प्रसंग पर लिखते समय कवि ने शिव बारात का जैसा वर्णन किया है, वैसा हिंदी कविता में कहीं अन्यत्र नहीं है। यहाँ मैं उस प्रसंग को उद्धृत कर रहा हूँ जब शिव–पार्वती विवाह के लिए मंडप में बैठते हैं। मंडप में बैठने से लेकर फेरों तक के रीति–रिवाज का ध्यान कवि ने रखा है–

"जो फर्श मुकर्रर है उस पर आ बैठे दूल्हा दुल्हन भी॥

जब दूल्हा दुल्हन मिल बैठे तब रीत हुई गंठजोड़न की।

वह पंडित आये हवन किया, सब लाकर इसकी चीज़ रखी॥

सब पंडित बैठे वेद पढ़ें, कोई बैठा डाले शक्कर घी।

गनेश की पूजा करके वां फिर पूजा की नौ ग्रहों की॥
भर थाल जवाहर नेग मिले, लें जल्दी सों इसे और नेगी।
और ले ले नेग दुआऐं दें, सब दूल्हा दुल्हन को बेगी॥
सुभ साअत नेक महूरत से, वह दूल्हा दुल्हन रूप भरी।"

नज़ीर हिंदी साहित्य के इतिहास के उस डंडार पर खड़े हैं, जहाँ से आधुनिक काल की शुरूआत होती है। भारत में हिंदू और मुसलमान शताब्दियों से एक साथ रह रहे हैं। भविष्य में कैसे रहें इसकी भी दृष्टि उनकी कविता से मिलती है। सामान्य व्यक्ति उनकी कविता के केंद्र में है। विविधता उनकी कविता की बड़ी विशेषता है। नाटकीयता और बिंबों की उपस्थिति कविता को रोचक बनाती है। फारसी की शब्दावली का भरपूर प्रयोग कवि ने किया है। आधुनिक काल की परंपरा के प्रारंभिक कवियों में नज़ीर की मजबूत उपस्थिति ने हिंदी कविता और भाषा की सामर्थ्य को बढ़ाया। वे मनुष्य भाव के प्रबल पक्षधर थे। मजहब के झगड़ों से लेखन और कर्म दोनों ही धरातल पर ऊपर खड़े थे। नज़ीर अकबराबादी को पढ़ना हिंदी कविता के माध्यम से ब्रज सहित भारतीय संस्कृति के बहुत से उन पक्षों को जानना–समझना है, जिसकी आज बहुत जरूरत है। कल जिसकी और अधिक आवश्यकता होगी।

'भावक' का यह अंक कई दृष्टियों से उपयोगी है। इस अंक की सामग्री निश्चित रूप से पाठकों को पसंद आएगी। इस अंक के सभी प्रबुद्ध लेखकों को लेखकीय सहयोग के लिए धन्यवाद–

नन्द किशोर पाण्डेय

(प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय)
प्रधान संपादक
निदेशक
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

संपादकीय .....

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने "मध्यकालीन धर्मसाधना" में लिखा है कि भारतवर्ष का दीर्घकालीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रान्तों के राजनीतिक संबंध बनते और बिगड़ते रहे हैं किंतु मध्यकाल में इस भक्ति साहित्य ने देश के विभिन्न भागों में अद्‌भुत एकता स्थापित की थी। वे कहते हैं कि देश के विभिन्न प्रान्त इतने अधिक अन्तः संबंद्‌ध हैं कि एक प्रदेश के साहित्य, धर्म और तत्ववाद को दूसरे प्रदेश के साहित्य, धर्म और तत्ववाद के बिना नहीं समझा जा सकता।

आचार्य द्विवेदी ने रेखांकित किया है कि यदि ब्रजभाषा साहित्य तक की सीमा बांध कर बैठे रहें तो इस महान रस समुद्र का एक ही पहलू देख सकेंगे। उन्होंने लिखा है कि सूरदास को समझने के लिए विद्यापति, चंडीदास और नरसी मेहता परम आवश्यक हैं।

आचार्य द्विवेदी ने निष्कर्ष दिया है कि इस साहित्य के माध्यम से हम अध्ययन करें तो लगेगा कि समूचा भारत नाना भाँति की साधनाओं, विश्वासों और अंतःसंबंद्‌ध विचारों के सूत्र से कस कर सीं दिया गया है। इस सूत्र का, एक सिरा बंगाल में है तो दूसरा पंजाब में तीसरा मारवाड़ में और आश्चर्य नहीं कि चौथा मालाबार में निकल आए। भारतवर्ष का मध्यकालीन साहित्य वस्तुतः प्रान्तवार बँटा हुआ विभिन्न बोलियों का साहित्य नहीं है, वह सारा साहित्य अविभक्त है और एक ही है। स्पष्ट है कि ब्रजतत्व को जनपद और प्रदेश की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता।

आचार्य वासुदेव शरण अग्रवाल इसके भी आगे जाकर ब्रजतत्व को भारत के तत्वचिंतन परंपरा की निरंतरता में प्रतिष्ठित करते हैं और उसे सांस्कृतिक क्रांति का नाम देते हैं। पोद्‌दार अभिनंदन ग्रंथ में वे कहते हैं कि भारत के सांस्कृतिक इतिहास में तीन क्रांतियाँ हुईं। पहली क्रांति वैदिक संस्कृति और निषाद संस्कृति का द्वन्द्व, समायोजन और अन्तर्भुक्ति है, जिसकी अभिव्यक्ति वेद व्यास के साहित्य में है।

भारत की दूसरी सांस्कृतिक क्रांति विक्रम की पहली शताब्दी के आसपास हुई, जब महायान और भागवत धारा की अन्तर्भुक्ति हुई। युगसत्य के रूप में विष्णु की प्रतिष्ठा हुई। विष्णु अर्थात् वह विराट तत्व जो सबमें व्याप्त हो जाये और सबको अपने में व्याप्त कर ले। अवतारवाद को लोक ने स्वीकार किया और विष्णु के अवतारों में बुद्‌ध की भी गणना हुई, ऋषभदेव की भी गणना हुई और राम तथा कृष्ण भी विष्णु के अवतार के रूप में लोक नमस्कृत हुए। समस्त भारत विष्णु के

सूत्र में समा गया। यहाँ हरि शब्द पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए, जो सूर–तुलसी जैसे कवि मनीषियों की वाणी में भी है और कबीर तथा गुरूनानक की वाणी में भी है। हरिमिन्दर साहब में भी हरि है।

भक्ति आंदोलन के रूप में तीसरी सांस्कृतिक क्रांति ने तत्वचिंतन का प्रस्थान बिंदु ही बदल दिया। आचार्य वल्लभ ने भागवत को चौथा प्रमाण माना था किंतु चैतन्य महाप्रभु ने भागवत को ही तत्व चिंतन का प्रमाण घोषित किया। प्रमाणं तत्र गोपिकाः। भक्ति मार्ग की आचार्या 'गोपी' हैं। गोपी को वेद की ऋचा के रूप में मान्यता मिली।

यह सत्य है कि भागवत शास्त्र ग्रंथ है किंतु उससे भी बड़ा सत्य यह है कि भागवत भारत के लोक जीवन और उसकी संस्कृति का वेगवान् प्रवाह है, जिसने पूरे देश के जनमानस को आप्लावित किया है। भागवत में जिन कथाओं का संकलन है उनका स्रोत लोक जीवन की वाचिक परंपरा से है। लोक और शास्त्र के इस संवाद ने लीला की अवधारणा की पुष्टि की। इस बात में रंचमात्र भी संदेह नहीं होना चाहिए कि लीला इतिहास की घटना नहीं होती। इतिहास की घटना देश काल से आबद्ध होती है और लीलातत्व देशकाल से अतीत है। लीला लोकतत्व से प्रेरित है और भारतीय साहित्य में ब्रज की पहचान लीला से ही है।

इस क्रांति ने शास्त्र चिन्तन की स्थापनाओं को चुनौती दी, वह ब्रह्मतत्व जो शास्त्र चिंतन के केंद्र में था उसकी क्या दशा बनी, यह आप सब जानते हैं–

कं प्रति कर्थायतुमीशे संप्रति कोवा प्रतीतिमायति।

गोपतितनयाकुंजे गोपतघूटी विहं ब्रह्म।

रसखान ने इस बात को यों कहा–

ब्रह्म मैं ढूँड्यो पुरानन–गानन वेद रिचा चौगुने गायन,

देख्यौ दुरो वह कुंज कुटीर में बैठ्यौ पलोटत राधिका पायन।

उपर्युक्त विचार डॉ. राजेन्द्र रंजन चतुर्वेदी ने 'भारतीय साहित्य में ब्रज की व्याप्ति' विषयक दो दिवसीय संगोष्ठी के बीज वक्तव्य में प्रस्तुत किए थे। डॉ. चतुर्वेदी के विद्वतापूर्ण भाषण में भारत के विविध साहित्य में ब्रज तत्व की चर्चा रोचक, ज्ञानवर्धक उदाहरणों के साथ की गई थी। हमने उनसे निवेदन किया था कि एक विस्तृत आलेख हमारी शोध पत्रिका 'भावक' के लिए लिखें, पर ये संभव न हो सका।

'भावक' के इस अंक में प्रस्तुत समस्त आलेख इसी शोध संगोष्ठी में प्रस्तुत किए गए थे। इन शोध आलेखों में ब्रजभाषा को अखंड भारत की उद्घोषिका कहा

गया है। संस्कृत वाङ्मय में ब्रज, काव्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा, हिंदी साहित्य के विविध कालों में ब्रज साहित्य का मूल्यांकन किया गया है। ब्रज की संस्कृति और भाषा के वैशिष्ट्य के साथ ही हिंदी गद्य के विकास में ब्रज भाषा का योगदान और ब्रज के लोक साहित्य का विविध दृष्टियों जैसे ब्रज की रासलीला, लोकसाहित्य में ब्रज, ब्रज लोकगीत, लोक कहावतें और विज्ञान आदि का विवेचन लेखों में दृष्टव्य है। साथ ही ब्रज साहित्य में महिलाओं की उपस्थिति और आधुनिक काल के ब्रज भाषा साहत्य की विशेषताओं का रेखांकन विशेष है।

'ब्रज की लता पता मोहि कीजै' प्रधान संपादक प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय जी के विस्तृत साक्षात्कार में ब्रज से जुड़े विभिन्न एतिहासिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, भाषिक और पर्यावरणीय बिन्दुओं को सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है। जिससे समग्र ब्रज का वृहद् चित्र उपस्थित हुआ हैं। निस्संदेह यह साक्षात्कार इस अंक की सामग्री को पूर्णता प्रदान करने वाला है।

आशा है ब्रज भाषा साहित्य के विविध पक्षों पर केंद्रित 'भावक' का ये अंक महत्वपूर्ण साबित होगा। आप अपने मूल्यवान विचारों से अवगत कराएँगे।

ऐसी आशा है।

—ज्योत्स्ना रघुवंशी

संपादक

अखंड भारत की उद्घोषिका है ब्रजभाषा

–नृत्य गोपाल शर्मा

भारत में भाषा अध्ययन के जो रूप विकसित हुए हैं उनमें भाषा का क्षेत्र, साहित्य, इतिहास, व्याकरण और सामाजिक स्थिति का आकलन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राजनीति, ज्ञान–विज्ञान, राजभाषा, राष्ट्रभाषा, संपर्क भाषा, बाजार की भाषा, मोबाइल कम्प्यूटर की भाषा आदि का अध्ययन बाद में आरंभ हुआ है। ब्रजभाषा का अध्ययन भी पहली दृष्टि को ध्यान में रखकर करना होगा। यदि नए मापदंडों को आधार बनाया जाएगा तो भारत की सभी बोलियां और भाषाएं निरर्थक और अनुपयोगी साबित हो जाएंगी। ब्रजभाषा भी उनमें एक होगी। हाँ, ऐतिहासिक संदर्भों में आकलन करेंगे तो हम पाएंगे कि भारतीयता का जय घोष है 'ब्रजभाषा'।

5 अगस्त, 2019 को कश्मीर के भारत विलय की संवैधानिक घोषणा के साथ अखंड भारत का जयघोष चारों ओर सुनाई पड़ने लगा। कश्मीर भारत से अलग है इसकी व्यवस्था या व्याख्या भारतीय संविधान की दो धाराओं में थी। धारा 370 और 35ए। इन दोनों का इतिहास लगभग 70 वर्ष पुराना है। इससे पूर्व की स्थितियों में कश्मीर, भारत की अन्य रियासतों की तरह ही, सामान्य रूप में भारत का अंग था।

कश्मीर की जन समस्याओं में बड़ा सवाल कश्मीर के पंडितों का उठता है। स्वतंत्र भारत के विस्थापित कश्मीरी पंडितों से पूर्व कश्मीर के काव्यशास्त्री, व्याकरणाचार्य और साहित्याचार्य संस्कृत भाषा और भारतीयता को सौंदर्य प्रदान कर रहे थे। अपनी प्रतिभा से चमत्कृत कर रहे थे। कश्मीर संस्कृत भाषा का केंद्र था। लगभग 10वीं शती तक इन आचार्यों की ज्ञान पिपासा आलोकित दिखाई पड़ती है। 10वीं शती के पश्चात् वे कौन से कारक पैदा होते हैं जिनसे कश्मीर की वादियों से बहने वाली ज्ञान सुगंधित वायु का प्रवाह एकाएक रुक गया? प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'संस्कृत कवियों के व्यक्तित्व का विकास' में लिखा है कि–"प्रकृति के रमणीय अंचल में बसा हुआ कश्मीर देश की सांस्कृतिक गतिविधियों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देता रहा है। कश्मीर विशेष रूप से ज्ञान विज्ञान के संवद्र्धन तथा संरक्षण का केंद्र रहा है। प्राचीन कवियों, चिंतकों तथा दार्शनिकों द्वारा कश्मीर को विद्या का केंद्र कहा गया है। राजा अवंतिवर्मन, ललितादित्य तथा हर्षवर्द्धन ने कश्मीर में कला और साहित्य को

बढ़ावा देते हुए कश्मीर का मान बढ़ाया। काव्यशास्त्र तथा शैवदर्शन को कश्मीर का अद्‌वितीय योगदान मिला। कश्मीर में वामन, उद्‌भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनव गुप्त, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक जैसे संस्कृत के अप्रतिम काव्यशास्त्री उत्पन्न हुए।"[1]

10वीं शती तक संस्कृत भाषा का साम्राज्य विखंडित हो गया था। लोक भाषा की दृष्टि से यह समय अपभ्रंश का है। डॉ. भोलानाथ तिवारी ने अपभ्रंश के संबंध में लिखा है कि–"प्राकृत कालीन जनभाषा का यही विकसित रूप मोटे रूप से 500 ई. से 1000 ई. के बीच अपभ्रंश कहा जाता है।"[2] अपभ्रंश की बोलियों के साथ अन्य भारतीय बोलियों या भाषाओं का विकास इस समय हो रहा था। तमिल, तेलुगू, कन्नड़, मलयालम, उड़िया सहित दक्षिणी भारत की भाषाओं तथा गुजराती, बंगाली, उर्दू, भाषाएं अस्तित्व में आ गयी थीं। दक्षिण की कुछ भाषाओं का खासा विकास हो गया था। प्रश्न यह है कि इन भारतीय भाषाओं में कश्मीरी आचार्यों का काव्यशास्त्रीय चिंतन, भाषा शास्त्रीय चिंतन और दार्शनिक चिंतन कहाँ है? और यदि है तो कितना है? और यदि नहीं है तो क्यों नहीं है? ऐसा क्यों होता है कि भारत की जो आत्मा संस्कृत में बोलती है उसकी आवाज को धारण करने का दायित्व कोई क्षेत्रीय भाषा नहीं उठाती? ब्रजभाषा इस दायित्व को उठाती है। सहर्ष धारण करती है। कश्मीर से उद्‌घोषित भारत के दार्शनिक और काव्यशास्त्रीय चिंतन को जन सामान्य के बीच ले जाने का काम करती है।

बकौल हिंदी जगत ब्रजभाषा की दमदार उपस्थिति 16वीं से 19वीं शती तक है। हिंदी साहित्य कोश में लिखा है कि "ब्रजभाषा का साहित्य में प्रयोग 16वीं शताब्दी के प्रारंभ से मिलता है, जब ब्रज प्रदेश में गौडीय वैष्णव और बल्लभ संप्रदाय अथवा पुष्टिमार्ग के केंद्र स्थापित हुए। सूरदास साहित्यिक ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि थे।"[3] इसी कृति में आगे कहा गया है–"ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से ब्रजभाषा का सीधा संबंध शौरसेनी अपभ्रंश तथा शौरसेनी प्राकृत से हे। कुछ विद्‌वानों का मत है कि साहित्यिक तथा वैदिक संस्कृत का मूलाधार भी शूरसेन जनपद की ही समकालीन बोली थी। शूरसेन जनपद की सीमाएं वर्तमान ब्रज प्रदेश से मिलती जुलती रही होंगी। इसका केंद्र मथुरा रहा है।"[4]

इतिहास साक्षी है कि 16वीं से 19वीं शती का समय भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर बहुत डरावना समय है। भक्तिकाल (सं. 1375-1700) की राजनीतिक परिस्थिति का परिचय देते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं कि–"देश में मुसलमानों का राज्य

प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देवमंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियां तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही।"[5] ध्यान देने की बात है कि भारतीयता के जो गीत मौन हुए हैं वे संस्कृत में गाए जाते रहे होंगे। क्योंकि लंबे समय तक वही एक भाषा थी जो भारत के सांस्कृतिक कलेवर को धारण कर रही थी। इससे आगे के समय के लिए डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं कि–"सम्वत् 1700 से 1900 तक भारत का राजनीतिक इतिहास चरम उत्कर्ष को प्राप्त मुगल साम्राज्य की अवनति के आरंभ और फिर क्रमशः उसके पूर्ण विनाश का इतिहास है।"[6]

भारत की विकट परिस्थितियों के बीच भारत (राजनीतिक रूप) और भारतीयता (सांस्कृतिक चेतना) की विखंडित मूर्ति को अखंडित रखने का तीव्र प्रयास ब्रजक्षेत्र में दिखाई पड़ता है। दक्षिण के सभी प्रमुख आचार्यों–रामानुजाचार्य (1017-1137) श्री पेरम्बुदूर–तमिलनाडु, माध्वाचार्य (1238-1317) कन्नड़, निम्बार्काचार्य–आंध्रप्रदेश, के दार्शनिक और भक्ति सिद्धांतों को ब्रजक्षेत्र में जन आकांक्षाओं के अनुरूप विकसित होने का अवसर मिला। यहीं दक्षिण के दार्शनिक चिंतन भक्ति के माध्यम से उत्तर भारत की जनता के हृदय में स्थान बनाते हैं।

दक्षिण से उत्तर तक भक्ति की विचारधारा से भारत को एक करने में जिस व्यक्ति ने सबसे अधिक सफलता हासिल की वे थे श्री वल्लभाचार्य (1479-1531)। इनका संबंध दक्षिण भारत के कांकरवाड से है। ये तैलंग ब्राह्मण थे। ध्यातव्य हो कि आज भी ब्रज क्षेत्र में तैलंग ब्राह्मण वल्लभाचार्य जी की बैठकों के माध्यम से सम्माननीय हैं। पूरे ब्रजक्षेत्र में महाप्रभु जी की बैठकें बनी हुई हैं जहाँ पर दक्षिण भारतीय और विशेषतः गुजराती प्रतिवर्ष आते हैं। इन बैठकों की व्यवस्था में तैलंगाना परिवारों का वर्चस्व है। वल्लभाचार्य जी ने ही सं. 1550 में गोकुल प्रवास के दौरान 'पुष्टिमार्ग' की स्थापना की थी। सूरदास इन्हीं के शिष्य थे। बाद में इनके पुत्र गुसांई विट्ठलनाथ ने अष्टछाप की स्थापना की।

कन्नड़ के माध्वाचार्य का मत आरंभ में जन सामान्य के बीच स्थान नहीं बना पाया था किंतु बाद में इस मत ने भारत के बंगाल क्षेत्र को जोड़ने में बड़ी भूमिका

निभाई। बंगाल नवद्वीप में जन्मे श्री चैतन्य महाप्रभु (सं. 1541-1590) की भेंट सं. 1562 में गया (बिहार) प्रवास के दौरान माध्व संप्रदाय के आचार्य माधवेंद्रपुरी से हुई। बंगाल और बिहार होते हुए ब्रज में प्रवास के बाद ये उड़ीसा गए और ब्रज की राष्ट्रीय एकता का संदेश संप्रेषित किया। आज भी ब्रज में बंगाल और उड़ीसा के लोगों की उपस्थिति इस एकता का प्रमाण प्रस्तुत करती है। ब्रज के वर्तमान स्वरूप की खोज में गौडीय संप्रदाय के ब्रजसेवी संत नारायण भट्ट का विशेष योगदान है।

बंगाल को आधुनिक भारत का प्रवेश द्वार कहा जाता है। प्रगतिशील भारत के पहले चरण चिह्न यहीं दिखायी पड़ते हैं। श्री अरविंद, राजाराम मोहन राय और स्वामी विवेकानंद जैसे प्रखर बुद्धिवादी चिंतक इसी क्षेत्र की देन हैं किंतु बंगाल से बड़ी संख्या में महिलाएं और पुरुष ब्रज क्षेत्र में आते हैं? कोई एक तत्व तो है जो इन्हें बंगाल से ब्रज तक खींच लाता है। इसका श्रेय ब्रज की उस सर्वजन हिताय और अखंड भारत के स्वप्न की संस्कृति को जाता है जिसका विकास 15वीं 16वीं शती में हुआ था।

यह प्रश्न विचारणीय है कि वह कौन सी शक्ति थी कि भारत के विभिन्न भागों से आए हुए ये आचार्य ब्रज क्षेत्र को भारतीय अखंडता का उद्घोषक बनाते हैं ? ब्रज की सहिष्णु संस्कृति और ब्रज भाषा की माधुर्य प्रियता ने इन आचार्यों को अपने यहाँ आमंत्रित किया होगा। इसी शक्ति ने पूरे भारत के जन मानस को जोड़ने का काम किया। उस समय की किसी बोली या भाषा ने इस क्षमता का परिचय नहीं दिया कि वे अखंड भारत का स्वप्न देखती हों या भारतीयों को यह स्वप्न दिखाती हो। ब्रजभाषा ने उस समय साहित्यिक क्रांति का उद्घोष किया। साहित्य रचना के लिए भर्तृहरि की ठोस नीति–

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥[7]

का आश्रय लिया। ब्रजभाषा का साहित्य सर्वजन हिताय है, संगीतबद्ध है और काव्यशास्त्रीय कला का धारक है।

ब्रजभाषा काव्य का दूसरा भाग हिंदी साहित्य के उत्तर मध्यकाल यानि रीतिकाल से जुड़ा हुआ है। रीतिकाल के विशेषज्ञ विद्वान डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है कि–"हिंदी में रीति–काव्य प्रायः उपेक्षा का ही भागी रहा है। द्विवेदी युग के आलोचकों ने इसको नीतिभ्रष्ट कहकर तिरस्कृत किया, छायावाद के प्रतिनिधि कवि लेखक इस कविता को अति ऐन्द्रिय और स्थूल कहकर हेय समझते रहे और आज का प्रगतिशील समीक्षक इसको सामंतवाद की अभिव्यक्ति मानकर प्रतिक्रियावादी कविता कहता है।"[8]

रीतिकाल हिंदी साहित्य का वह काल है जिसने कश्मीर को भारत के हृदय रूप में स्वीकार किया। कृपाराम की हिततरंगिणी, केशव की कविप्रिया और नंददास की रसमंजरी ने, कश्मीर के काव्यशास्त्रीय चिंतन का उत्तर भारतीय साहित्य चिंतन में विलय की पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। बाद के ब्रज भाषा कवियों ने कश्मीर के आचार्यों–अभिनवगुप्त कृति ध्वन्यालोक लोचन, आनंदवर्द्धन कृति ध्वन्यालोक, मम्मट कृति काव्यप्रकाश, मुकुल भट्ट कृति अभिधावृत्तिमातृका, महिमभट्ट कृति व्यक्ति विवेक का ब्रजभाषा में पूर्ण अथवा अपूर्ण अनुवाद कर उसका पूरी तरह से विलय कर दिया।

गोस्वामी तुलसी दास ने रामचरित मानस लिखते हुए कहा था कि 'हरि अनंत हरि कथा अनंता।' और आगे उन्होंने लिखा कि इस अनंत की कथा तो मैं क्या कहूँ मैं तो मात्र इस कथा को–"भाषाबद्ध करब मैं सोई।" राम कथा को भाषाबद्ध करने वाले गोस्वामी जी को तो पर्याप्त सम्मान मिला पर यही बात जब केशव दास ने कही तो उसके मर्म को भुला दिया गया। केशव कविप्रिया के आरंभ में लिखते हैं–

समुझै बाला बालकहु वर्णन पंथ अगाध।
कविप्रिया केशव करी छमिहहु कवि अपराध॥[9]

कविप्रिया में केशव ने काव्यशास्त्र को न केवल भाषाबद्ध किया वरन् उन्होंने स्त्री शिक्षा का उद्घोष 'बाला' कहकर किया था। पर हाय रे आचार्य शुक्ल का धोबी पछाड़, 'कठिन काव्य का प्रेत' कहकर बेचारे केशव को चारों खाने चित्त कर दिया।

आचार्य कुलपति मिश्र ने भी शास्त्र को भाषाबद्ध करने का संकल्प दोहराया था–

जिती देव बानी प्रगट है कविता की घात।
ते भाषा में होंहि तो सब समझें रस बात॥[10]

रीति कवियों की अनुवाद क्षमता का कभी आकलन किया ही नहीं गया। कुलपति मिश्र ने न केवल एक भाषा बल्कि तद्युग में जितनी भी कविता की भाषाएं (जिती देव बानी प्रगट) थीं उन सभी को भाषा में लाने की बात कही थी। ब्रजभाषा ने देव वाणी और वेद वाणी के सिद्धांतों को जन वाणी में प्रस्तुत किया उनके इस योगदान को स्मरण करना पड़ेगा।

भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनिकार आनंदवर्द्धन और आचार्य मम्मट को सर्वाधिक प्रतिभाशाली आचार्य माना जाता है। दोनों का संबंध कश्मीर से है। रीतिकाल के कवि आचार्यों ने इनके काव्यशास्त्रीय चिंतन को पूरे हिंदी जगत की धरोहर बना दिया। आज भी भारतीय काव्यशास्त्र के अध्येता संस्कृत काव्यशास्त्र का कोई अध्ययन कश्मीरी

आचार्यों के बिना पूरा नहीं कर सकते। और जब हिंदी काव्यशास्त्र की बात होगी तो ब्रजभाषा में किया गया रीतिकालीन चिंतन चाहे अनचाहे अपना स्थान बना ही लेगा।

बृहद् भारतीय भू–भाग में कोई एक भाषा सर्वमान्य कभी नहीं रही है। पर हर काल में कोई न कोई एक भाषा जन सामान्य को जोड़े रखने की संभावनाएं तलाशती रही है। इस क्षमता के लिए यह जरूरी होता है कि वह अपने समकालीन अन्य भाषाओं से सहोदरी का संबंध विकसित करे। यह जितना जरूरी भाषा के विकास के लिए है उतना ही जरूरी राष्ट्र की अखंडता के लिए है। ब्रजभाषा ने लगभग 400 वर्षों तक इस तरह का सफल प्रयास किया। उसने भाषाओं को भी जोड़ा और भारतीयों को भी।

ब्रजभाषा के महत्वपूर्ण कवि हैं भिखारी दास। उनकी साफ गोई आज भी पूरे मध्यकाल को रेखांकित करती है। उन्होंने लिखा था–"आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई न तो राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानौ है।"[11] कविता के समकालीन कलेवर के बारे में उनकी साफ गोई जितनी महत्वपूर्ण है भाषा के बारे में उनके विचार और भी स्पष्ट हैं। उन्होंने ब्रजभाषा तथा अन्य समकालीन भाषाओं के साथ उसके संबंध को स्पष्ट करते हुए लिखा है–

भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहैं सुकवि सब कोई।
मिलै संस्कृत पारसिहु, पै अति प्रगट सु होइ॥
ब्रज मागधी मिलै अमर, नाग जमन भाषानि।
सहज पारसिहू मिलै, षट् विधि कवित बखानि॥[12]

"सहज कथन का अभिप्राय है कि यों तो कवित्व पूर्ण रचनाएं ब्रज, मागधी (अपभ्रंश), अमर (संस्कृत), नाग (पैशाची), यवन (अरबी) और फारसी इन छहों भाषाओं में होती हैं, पर सब सुयोग्य जन जानते हैं कि (इस युग में) सर्वाधिक सरस रचना ब्रजभाषा में ही हो रही है। इस भाषा की रचना में संस्कृत और फारसी के शब्दों का सम्मिश्रण उसे और भी अधिक रोचक बना देता है।"[13]

ब्रजभाषा की व्यापकता का उनका दूसरा छंद भी इस दृष्टि से बहुत महत्व का है। इसमें उन्होंने विभिन्न कवियों के नाम लेकर तद्युग में उसकी व्यापकता का उल्लेख किया है। यह उल्लेख मात्र भाषिक क्षमता का नहीं है वरन् यह इस भाषा के राष्ट्रीय स्वरूप का भी उदाहरण है। भाषा द्वारा भारत के अखंड स्वरूप का भी प्रमाण है। भिखारीदास लिखते हैं–

सूर, केशव, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,
चिंतामणि, मतिराम, भूषन सु जानिए।

लीलावर, सेनापति, निपट नेवाज, निधि,

नीलकंठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए।

आलम, रहीम, रसखान, सुंदरादिक,

अनेकन सुमति भए कहाँ लौ बखानिए।

ब्रजभाषा हेत ब्रजवास ही न अनुमानौ,

ऐसे–ऐसे कविन की बानी हू सों जानिए॥[14]

कन्नौज के परमानंद दास, मेड़ता राजस्थान की मीराबाई, केशव कश्मीरी के शिष्य श्री भट्ट, ओरछा के व्यास जी, दिल्ली के रसखान, सीतापुर के नरोत्तम दास, पटना के गुरू गोविंद सिंह, जौनपुर के बनारसी दास, अनूपशहर के सेनापति, इलाहाबाद के तोषनिधि, अहमदाबाद, गुजरात के दलपतिराय और वंशीधर आदि के साथ कितने ही नाम गिनाए जा सकते हैं जो इस बात का प्रमाण हैं कि ब्रजभाषा राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोने का काम कर रही थी।

आलम, रसखान, रसलीन, जमाल जैसे रचनाकारों की ब्रजभाषा प्रियता धर्म के बंधनों से ऊपर उठने का प्रमाण है। अकबर के दरबारी कवि रहीम, बीरबल, गंग, मनोहर कवि, टोडरमल भी ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि हुए हैं। सुंदर कवि बादशाह शाहजहां के दरबारी कवि थे जिनका जन्म ग्वालियर में हुआ था। ये ब्रजभाषा में कविता किया करते थे। कादिरबख्श (हरदोई), सैयद मुबारक अली बिलग्रामी, अली मुहिम खाँ आदि का ब्रजभाषा प्रेम इस भाषा की संगठन शक्ति को दर्शाता है। ये सभी कवि ब्रजक्षेत्र में ही प्रसिद्ध नहीं थे वरन् अपने अपने क्षेत्र में इनका पूरा सम्मान था। जो यह दर्शाने के लिए पर्याप्त है कि ब्रजभाषा की स्वीकृति ब्रज क्षेत्र से बाहर पूरे भारत में थी और यह भाषा पूरे भारत को एक सूत्र में पिरोने का सफल उद्यम कर रही थी।

संदर्भ–

1. संस्कृत कवियों के व्यक्तित्व का विकास : प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी
   प्रकाशक : संस्कृत परिषद् सागर, सागर
2. भाषाविज्ञान–डॉ. भोलानाथ तिवारी, किताब प्रकाशन, दिल्ली
3. हिंदी साहित्य कोश भाग 1 सं. धीरेंद्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी
4. हिंदी साहित्य कोश भाग 1 सं. धीरेंद्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी
5. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा काशी

6. रीति काव्य की भूमिका–डॉ. नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
7. नीति शतकम्–आचार्य भर्तृहरि
8. रीति काव्य की भूमिका–डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
9. कविप्रिया–केशवदास
10. रसरहस्य–कुलपति
11. काव्यनिर्णय–भिखारी दास
12. काव्यनिर्णय–भिखारी दास
13. हिंदी रीति परंपरा के प्रमुख आचार्य–डॉ. सत्यदेव चौधरी
14. काव्यनिर्णय–भिखारी दास

संस्कृतवाङ्मय में ब्रज की उपस्थिति

—जगदीश प्रसाद शर्मा

पुराणों तथा अन्य प्राचीन संस्कृत साहित्य में ब्रजक्षेत्र के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। ब्रजक्षेत्र भारतीय वाङ्मय में न केवल अत्यधिक धार्मिक महत्व के कारण वर्णित हुआ है, अपितु यह क्षेत्र अपनी नैसर्गिक प्राकृतिक शोभा संपन्नता के कारण भी कवियों के सहज आकर्षण का विषय रहा है। यहाँ के यमुना पुलिन, लता–वृक्ष, पशु–पक्षी एवं श्रीकृष्ण राधा भक्तों का वर्णन करते हुये पुराणकार तथा साहित्यकार नहीं अघाते। यह भूमि श्रेष्ठ अमृत को धारण करती है, अतएव यहाँ देवगण सूक्ष्म रूप से विराजते हैं। जैसा कि पद्मपुराण में वर्णित है–

कालिन्दी यं सुषुम्तन्या परमामृतवाहिनी।
यत्र देवाश्च भूतानि वर्तन्ते सूक्ष्मः रूपतः॥

परमात्मा श्री कृष्ण ने ब्रजक्षेत्र को पृथ्वी पर सर्वोत्तम मानकर यहाँ अपनी विहार भूमि बनाई। इसका उल्लेख ब्रह्मवैवर्त पुराण के वाराह कल्प में मिलता है। पाप से पीड़िता धरा ने जब देवताओं से अपना दुःख निवेदन किया, तब देवगण ब्रह्मा जी के पास गये। सभी ने मिलकर प्रभु की स्तुति की। उस समय देवताओं को युगल रूप का दर्शन हुआ। भगवान ने आश्वासन दिया और कहा—

यास्यामि पृथिवीं देवा यात यूयं स्वमालयम्।
यूयञ्चैवांशरूपेण शीघ्रं गच्छत भूतलम्॥
इत्युक्त्वा जगतान्नाधो गोपाना हूय गोपिकाः।
उवाच मधुरं सतयं वाक्यं तत्समयोचितम्॥
गोपाः गोप्यश्च श्रृणुत यातनन्दब्रजं परम्।
वृषभानु गृहं क्षिप्रे गच्छत्वमपि राधिके॥

कदाचित् कुछ लोग वर्तमान ब्रजभूमि की ऐतिहासिकता पर अंगुलि प्रक्षेप करते हुये देखे जाते हैं। परंतु वर्तमान ब्रजभूमि ही वह भूमि है जहां पर परात्पर ब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण ने लीलाएं की थीं। इस रहस्य का स्फोटन श्री स्कन्द पुराण के वैष्णव खंड में किया गया है। भगवान श्रीकृष्ण के परमधाम के पश्चात् उनके प्रपौत्र वज्रनाभ का मथुरा के राज्य पर अभिषेक किया गया। यह कार्य धर्मराज युधिष्ठिर ने ही किया था। मथुरा

में वज्रनाभ एवं हस्तिनापुर में परीक्षित का अभिषेक करके धर्मराज भाइयों सहित उत्तराखंड की ओर चले गये। वज्र की सहायता के लिये परीक्षित कभी–कभी मथुरा जाया करते थे और उन्हें हर प्रकार से आश्वासन तथा सहायता दिया करते थे।

यथा–

कोश सैन्यादिजाचिन्ता तथादिमनादि।

मनागपिन कार्या ते सुसेव्याः किन्तु मातरः॥

वज्रनाभ! तुम्हें सेना कोश तथा शत्रु विषयक चिंता नहीं करनी है, केवल मन लगाकर माताओं की सेवा करो। किन्तु वज्र को दूसरा ही कष्ट था। उसी समय ब्रजक्षेत्र प्रजा शून्य हो रहा था। निर्जन वन में राज्य की कोई शोभा नहीं थी। उन्होंने अपनी यह वेदना परीक्षित पर प्रकट की थी–

माथुरे त्वभिषित्तोऽहंपि स्थितोऽहं निर्जनेवने।

क्वगता वै प्रजात्रत्या यत्र राज्यं प्ररोचते॥

परीक्षित ने वज्रनाभ की शंका का निवारण करने के लिये शाण्डिल्य मुनि का आवाह्न किया। जब शाण्डिल्य ने ब्रज क्षेत्र की महिमा का वर्णन किया–

श्रृणतं दत्तचित्तौ में रहस्यं ब्रजभूमिजम्।

व्रजनं व्याप्तिरित्युक्त्या व्यापना द्व्रज उच्चते॥

गुणातीतं परं ब्रहम व्यापकं व्रज उच्चते।

सदानन्दं परं ज्योतिर्मुतानां पदमव्ययम्॥

तस्मिन्नन्दात्मजः कृष्णः सदानन्दाग विग्रहः।

आत्मारामश्चाप्तकामः प्रेमाक्तैरनुभूयते॥

यह ब्रजक्षेत्र परमब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण का ही स्वरूप है। जैसे श्रीकृष्ण नित्य है उसी प्रकार यह ब्रजभूमि भी नित्य है। जो प्रेमपूर्ण है अधिकारी है उन्हीं को इसका दर्शन होता है। इसलिये यह भूमि संप्रति निर्जन सी प्रतीत हो रही है–

अत्रैव ब्रजभूमिः सा यत्र तत्वं सुगोपितम्।

मासते प्रेम पूर्णानां कदाचिदपि सर्वतः॥

व्यावहारिक लीलास्थास्तत्र यन्नाधिकारिणः।

यश्यन्त्यत्रागता स्त स्मान्निर्जनत्वं समन्ततः॥

ऐसा कहकर शाण्डिल्य मुनीश्वर ने वज्रनाभ को आदेश दिया, "तुम यहाँ बहुत से गाँवों को बसाओ इससे तुम्हे सिद्धि प्राप्त होगी।"

तस्माच्चिन्ता न ते कार्या वज्रनाभ मदाज्ञया।
वासयात्र बहून ग्रामाज संसिद्धस्ते भविष्यति॥
सच्चिदानन्दभूरेषात्वया सेन्या प्रयत्नतः।
तवकृष्ण स्थलान्यत्र स्फुरन्तुमदनुग्रहात्॥
कृष्णलीलानुसारेण कृत्वा नामाति सर्वतः।
त्वया वासयता ग्रामान संसेव्या भूरियं परा॥
गोवर्धने दीघ्रपुरे मथुरायां महावने।
नन्दग्रामे वृहत्सानौ कार्या राज्यस्थितिस्त्वया॥

वज्रनाभ ने परीक्षित की सहायता एवं महामुनि शाण्डिल्य के अनुग्रह से भगवान की लीला भूमि पर ब्रजक्षेत्र को पुनः स्थापित किया। भगवत्कृपा से उन्हें नित्य धाम का प्रत्यक्ष हुआ। उन्होंने भगवत्लीला स्थलों पर कूप, तड़ाग, सरोवर बनवाये तथा हस्तिनापुर से आई हुई प्रजा को उन स्थलों पर ग्रामों में बसाया। उस समय चूंकि मथुरा प्रदेश निर्जन हो रहा था वहाँ कोई प्रजा नहीं थी, मात्र प्राचीन वानर और अंगुलिगण्य वृद्ध ब्राह्मणों के ही दर्शन होते थे, जो भगवान के द्वारिका चले जाने पर भी मथुरा में रह गये थे। अतएव प्रजा को हस्तिनापुर से लाकर बसाया गया था। इस बात का स्कन्द पुराण में स्पष्ट उल्लेख है—

ततस्तु विष्णुपुरातेन श्रेणीमुख्याः सहस्रशः।
इन्द्रप्रस्थात समानच्च मथुरा स्थानमापिताः॥
माथुरान ब्राह्मणांस्तत्र वानराश्च पुरातनाम्।
विज्ञाय नाननीयत्वं तेषु स्थापितवान स्वराट्।
कुण्डकूपादि पूर्तेन शिवादिस्थापेनच॥

इस प्रकार यह ब्रजभूमि भगवान श्रीकृष्ण की नित्य लीला भूमि है। समस्त संस्कृत वाङ्मय इसकी महिमा का गान करता नहीं थकता। इस पावन भूमि में तमोगुणी, रजोगुणी साधकों को शांति नहीं मिलती है किंतु जो शुद्ध सत्वगुण को धारण करके इसका सेवन करते हैं उन्हें ब्रज के कण–कण में युगल सरकार का दर्शन होता है। ब्रज में प्रेमा भक्ति का प्राधान्य है पद्मपुराण में प्रभु मिलन का साधन प्रेमा भक्ति को ही बताया गया है—

न तपोमि र्न वेदैश्च न ज्ञानेनापिकर्मणा।
हरिर्हि। साध्यते भक्तया प्रमाणं तत्र गोपिकाः॥

गोपियों को ब्रज भूमि में मात्र भक्ति से भगवत्प्राप्ति हुई है। यहाँ सब ब्रह्ममय है। यहाँ तक कि ब्रज के तरू, लता, गुल्म भी चिद्घन के रूपांतर है। निम्बार्क पीठाचार्य श्री पद्माचार्य ने अच्रिशदिपद्धति में इस रहस्य को बतलाया है–

कृब्जगुल्मादिरूपत्वं श्रीमद्वृन्दावनस्य च।
कृष्णक्रीडा कृतेज्ञेयं चिद्धनस्य विचित्रता॥

वज्रनाभ के द्वारा परमात्मा श्रीकृष्ण की लीला स्थली ब्रजभूमि की प्रतिष्ठा कर दिये जाने के पश्चात् इसका गौरव कभी कम नहीं हुआ। महाकवि कालिदास जिनका काल प्रायः ईसा की चौथी शताब्दी मान्य है ने अपने रघुवंश महाकाव्य में ब्रज क्षेत्र के शूरसेन जनपद मथुरा, वृन्दावन, गोवर्धन तथा यमुना का उल्लेख किया है। विदर्भ राजकुमारी इन्दुमती के स्वयंवर में ब्रज क्षेत्र (शूरसेन जनपद) से आये हुये वहाँ के तत्कालीन राजा सुषेण की गणना रघुवंश महाकाव्य के छठे सर्ग में मगध, अंग, अवन्ती, अनुप, कलिंग और अवध के नरेशों के मध्य की गई है। जो यहाँ के अतुलित ऐश्वर्य का परिचायक है। कालिदास ने सुषेण का परिचय इस प्रकार दिया है–

साशूरसेनाधिपति सुषेण मुद्दिश्य लोकान्तर गीतकीर्तिम।
आचार शुद्धोमय वंशदीपं शुद्धान्तरक्ष्या जरादे कुमारी॥

इसी प्रकार ब्रजभूमि के मुकुटमणि वृन्दावन की उपमा महाकवि ने कुबेर के उद्यान से दी है–

संभाव्यमर्त्तार ममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तर पत्र शयये।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः॥

ब्रजभूमि की लौकिक और अध्यात्मिक महिमा में कभी न्यूनता नहीं आई उदाहरणार्थ मध्यकाल (11वीं शती) के काश्मीरी पंडित महाकवि विल्हण ने अपने महाकाव्य विक्रमाकं देवचरितम् में श्री वृन्दावन का कितना उदात्त वर्णन किया है–

दोलालोलद्धनजघनया राधया यत्र मग्नाः।
कृष्णक्रीडांगण विटमिनो नाधुनाप्युच्छवसन्ति॥
जल्पक्रीडा मथितमथुरा सूरिचक्रोण केचित्।
तस्मिन वृन्दावन परिसरे वासरायेन नीताः।

अर्थात् झूला झूलती हुई चंचल पीन जघना राधा के द्वारा जहाँ श्रीकृष्ण के विहार कुंज के अनेक वृक्ष तोड़ दिये गये और जहाँ मथुरा नगरी में अनेक विद्वान मेरे द्वारा वाद क्रीड़ा में परास्त किये गये उसी वृन्दावन में मैं कुछ दिन रहा।

ऐसे महाकवियों का ध्यान ब्रजभूमि की ओर जाना अपने आप में उसकी विशिष्टता का परिचायक है। जिस प्रकार कालाकारिक कवियों का ध्यान ब्रजभूमियों की ओर गया उससे कहीं अधिक भक्ति रसानुरागी कविगण इसमें अनुरक्त हैं। वस्तुतः ब्रजभूमि रस भूमि ही है, जैसे कृष्ण राधा के बिना अधूरे हैं वैसे ही राधा श्रीकृष्ण के बिना सूनी हैं और राधाकृष्ण के बिना भक्त रसियों का हत्प्रांगण सूना है। श्री गौड़ीय वैष्णवों में श्री प्रबोधानन्द सरस्वती हुये हैं। वे श्री वुगविद्या के अवतार हैं। उनके अनुसार श्री राधा कृष्ण के नित्य विहार का प्रकाश ही सर्वश्रेष्ठ है जो ब्रज भूमि में ही संभव है–

अनगैंकरसोदारे श्री वृन्दावन धामनि।
यापयन्तौ दिननिशाः केवलानग के लिभिः॥

श्री रूपगोस्वामी ने भी कुंजबिहारी के विहार का मनोरम वर्णन किया है। "सफलीकरोतिकलयन्त कुन्जे विहारं हरिः" यहाँ पर क्रिया का वर्तमान कालिक प्रयोग तथा शतृ प्रत्यय द्वारा नित्य निकुंज विहार सूचित होता है और यह वैशिष्ट्य ब्रज भूमि का ही है। जहाँ युगल सरकार नित्य संयोगी है। इसीलिये सहृदय कवियों का मन यहाँ बिना रमे नहीं रहता। श्री राधा कृष्ण का नित्य संयोग निम्न पद्य में दृष्टव्य है–

विनाकृष्णं राधाव्यथयतिसमन्तान्ममनो,
विना राधांकृष्णोप्यहह सखि माविक्लवयति।
जनिः सामे माभूत्क्षणमपिनः यत्रक्षणदुहौ,
युगेनाक्ष्णोहिहयां युगपदनयोवक्रशशिनोः॥

अकेले कृष्ण या राधा जी को देखने से भक्तों को कष्ट होता है अतः वह सदा उन्हें एकत्र ही देखने की कामना करते हैं। न केवल सगुणोपासक भक्त ही ब्रजक्षेत्र के दीवाने रहे हैं अपितु परमहंस योगीश्वरों ने भी इसे अत्यधिक महत्व दिया है। ब्रज के आचार्यों में कुछ द्वैत, कुछ विशिष्टाद्वैत तथा कुछ अद्वैत परंपरा के रहे हैं। किंतु ब्रज प्रेम की दृष्टि से उनमें साधारणतया साम्य प्रतीत होता है। आचार्यों में श्री ब्रह्मा जी के पुत्र सनकादियों का प्रथम महत्व है। 'सनत्कुमार संहिता' और 'सनत्कुमार परमगुणरहस्य' से यह निश्चित होता है कि ब्रज उन्हें विशेष प्रिय था। यथा–

सर्वं संत्यज्य गार्हस्थ्यं सर्व तीर्थगणन्तथा।
वृन्दावनं सदा सेव्यं यदीच्छेच्छुभमात्मणः॥

श्रीसदाशिव जी ने अन्य तीर्थों से वृन्दावन का अधिक महत्व बताया है। अतएव सनतकुमारों ने ब्रज क्षेत्र में अधिक निवास किया। वह स्थान श्री नारदादि ऋषियों के नाम से प्रख्यात हुआ। श्रीनारद जी को भी भगवान सदाशिवजी ने बतलाया था कि

निखिल वसुन्धरा में जम्बू द्वीप श्रेष्ठ है, उसमें भी भारतवर्ष में ब्रज में मथुरा मंडल और मथुरामंडल में श्री वृन्दावन श्रेष्ठ है–

त्रैलौक्ये पृथिवी मान्या जम्बू द्वीपमतः परम्।
तत्रापिभारतं वर्षं तत्रापि मथुरा पुरी॥
तत्र वृन्दावनं नाम तत्र गोपी कदम्बवाम्।
तत्र राधासखी वर्ग स्तत्रापि राधिका वरा॥

इसी प्रकार पद्मपुराण के श्रीमद्भागवत माहात्म्य में वर्णन आया है कि श्रीनारद जी मुग्धासखी के रूप में सदा निकुंज परिकर में स्थित रहते हैं और देवर्षि रूप से लोककल्याणार्थ त्रिलोकी पर्यटन करते रहते हैं। एक दिन वे फिरते–फिरते श्रीयमुना तट के उस स्थल पर पहुँचे जहाँ श्री भगवान ने अलौकिक लीलाएं की थीं। इस प्रकार संस्कृत साहित्य ब्रज महिमा से भरा पड़ा है। इस पावन भूमि में ऋषि–मुनि जड़ होकर भी रहना चाहते हैं। श्री उद्धवजी तो निज मुख से ही ऐसी कामना करते हैं–

"आसामहोचरण रेणु जुषामहं स्यां वृन्दावने किरूपि गुल्मलतौषधीकार"
प्रयोवताम्ब मुनयो विहगावनेऽस्मिन्कृष्णेक्षितं तदुदितं कललेणु गीतम्।
आरूहययेदुमभुजान रूचिरः प्रवालाज श्रृण्वन्त्यमीलित दृशोविगतान्यवाचः।

इत्यादि पंक्तियों से यह रहस्य स्पष्ट है। इति॥

संदर्भ–

1. त्रिपाठी डॉ. रामकृपालु : श्रीमद् भागवत् विमर्श, प्रकर्ष प्रकाशन झण्डेवालान, नई दिल्ली।
2. श्रीमद् भागवत कथासार : पं. श्रीकृष्ण चन्द्रठाकुरजी, प्रकाशक : श्रीकृष्ण प्रेमसंस्थान, भागवत कुंज निकुंज रमणरेती मार्ग, वृन्दावन (मथुरा)।

सामान्य काव्यभाषा के रूप में 'ब्रजभाषा'

–प्रभात कुमार मिश्र

'सामान्य काव्यभाषा' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में बहुधा प्रयुक्त पद है। इस 'सामान्य काव्यभाषा' की उनकी अपनी स्पष्ट धारणा रही है जिसे कई बार समझने की सुविधा के लिए देशभाषा, पुरानी हिंदी की काव्यभाषा, शौरसेनी प्रसूत अपभ्रंश, काव्य की ब्रजभाषा, परंपरागत काव्यभाषा आदि भी कहा गया है। इस आलेख में मुख्य रूप से आचार्य शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' को केंद्र में रखकर हिंदी की सामान्य काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा के विकास की विवेचना की गई है।

हिंदी साहित्य के इतिहास की दो विशेषताएँ स्पष्ट मानी गयी हैं। एक तो यह कि आधुनिक काल से पहले तक का समूचा हिंदी साहित्य पद्य–साहित्य है, और दूसरे कि आधुनिक काल से पहले तक पद्य की भाषा भी प्रधानतः ब्रजभाषा ही रही है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में आद्त साहित्य के विकास और परिवर्तन की विवेचना के क्रम में हिंदी साहित्य की भाषा के विकास और परिवर्तनों की भी व्याख्या की है। उनके इतिहास में साहित्य के इतिहास के साथ–साथ साहित्यिक भाषा के भी विकास की प्रामाणिक चर्चा मिलती है। उनके अनुसार हिंदी साहित्य का आरंभ जहाँ से माना जा सकता है उन सिद्ध कवियों की भाषा पुरानी हिंदी काव्यभाषा रही है। उन्होंने लिखा है कि–"सिद्धों की रचनाओं की भाषा देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी की काव्यभाषा है, यह तो स्पष्ट है। उन्होंने भरसक उसी सर्वमान्य व्यापक काव्यभाषा में लिखा है जो उस समय गुजरात, राजपूताने और ब्रजमंडल से लेकर बिहार तक लिखने–पढ़ने की शिष्ट भाषा थी।"

आगे उन्होंने पुरानी हिंदी काव्यभाषा का मंतव्य स्पष्ट किया है कि–"पुरानी हिन्दी की व्यापक काव्यभाषा का ढांचा शौरसेनीप्रसूत अपभ्रंश अर्थात् ब्रज और खड़ी बोली (पश्चिमी हिन्दी)।" गुप्त साम्राज्य के पश्चात् भारतीय सभ्यता और बल वैभव का केंद्र भारत का पश्चिमी भाग हो रहा था जहाँ कन्नौज, अजमेर, अहिलवाड़ा आदि बड़े–बड़े राज्य प्रतिष्ठित थे। यही कारण है कि प्रायः उधर की ही भाषा में कवि–चारण आदि रचना किया करते थे और उधर की भाषा शिष्ट साहित्यिक भाषा मानी जाती थी। ऐसे समय में विभिन्न प्रादेशिक बोलियों ने **ब्रज का आधार लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा** का रूप विकसित किया था जिसे चारण आदि पिंगल कहते थे। यह पिंगल भाषा

अपभ्रंश मिश्रित राजस्थानी अर्थात् डिंगल से भिन्न थी। आचार्य शुक्ल के अनुसार हिंदी साहित्य के इतिहास में केवल पिंगल भाषा में लिखे हुए ग्रंथों का ही विचार कर सकते हैं।

उनका कहना है कि भाषा का यही ढांचा सिद्धों की कविताओं में दिखाई पड़ता है। भाषा संबंधी ये प्रयोग मागधी प्रसूत पुरानी बंगला के न होकर, शौरसेनी प्रसूत पुरानी पश्चिमी हिंदी के हैं। अमीर खुसरो के प्रसंग में शुक्ल जी ने और अधिक स्पष्ट शब्दों में यह लिखा है कि–"यहाँ इस बात की ओर ध्यान दिला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि 'काव्यभाषा' का ढांचा अधिकतर **शौरसेनी या पुरानी ब्रजभाषा** का ही बहुत काल से चला आता था। अतः जिन पश्चिमी प्रदेशों की बोलचाल खड़ी होती थी, उनमें भी जनता के बीच प्रचलित पद्यों, तुकबंदियों आदि की भाषा ब्रजभाषा की ओर झुकी हुई रहती थी। अब भी यह बात पायी जाती है।" उन्होंने बताया कि खुसरो के **गीतों और दोहों की भाषा ब्रज** या मुख–प्रचलित काव्यभाषा ही है।

शुक्ल जी ने न केवल सिद्धों की भाषा में ब्रजभाषा प्रयोग देखे थे बल्कि कबीर के यहाँ भी उन्हें ब्रजभाषा प्रयोग दिखाई पड़ता है। शुष्क उपदेश देने वाले पदों अर्थात् 'साखी' से इतर गीतों अर्थात् 'रमैनी' की भाषा को ब्रजभाषा बताया था शुक्ल जी ने। कबीर के यहाँ ब्रजभाषा प्रयोग देख लेना बहुत कठिन है भी नहीं–

चलती चक्की देख कर दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच आ साबत गया न कोय॥

भक्ति आंदोलन के प्रभाव से रचे गए भक्ति काव्य में सगुण भक्ति पदों की भाषा तो ब्रज या परंपरागत काव्यभाषा है, पर 'निर्गुण बानी' की भाषा सधुक्कड़ी है। नामदेव की रचनाओं में यह बात साफ दिखाई पड़ती है। कबीर ने नाथपंथियों की 'सधुक्कड़ी भाषा' का व्यवहार किया जिसमें खड़ी बोली के बीच राजस्थानी और पंजाबी का मेल था। इसका कारण यह था कि मुसलमानों की बोली पंजाबी या खड़ी बोली हो गयी थी और निर्गुणपंथी साधुओं का लक्ष्य मुसलमानों पर भी प्रभाव डालने का था। अतः उनकी भाषा में अरबी और फारसी के शब्दों का भी मनमाना प्रयोग मिलता है। कबीर की सांप्रदायिक शिक्षा और सिद्धांत के उपदेश मुख्यतः सधुक्कड़ी में है जो 'साखी' के भीतर हैं किन्तु 'रमैनी' और 'सबद' में गाने योग्य पद या गीत हैं जिनकी भाषा प्रचलित काव्यभाषा या ब्रज ही है–

हौं बलि कब देखौंगी तोहि।
अहनिस आतुर दरसन कारनि ऐसी व्यापी मोहि।
नैन हमारे तुम्हको चाहैं, रती न माने हारि।

आचार्य शुक्ल की टिप्पणी यहाँ बहुत महत्वपूर्ण है **'सूर के पदों की भी यही भाषा है'।**

नानक ने कबीर की न केवल उपासना पद्धति का प्रचार किया था बल्कि उनके भजनों में भी देश की सामान्य काव्यभाषा हिंदी अथवा ब्रजभाषा का प्रयोग मिलता है। दादू की भाषा ऐसे ही मिली–जुली पश्चिमी हिंदी रही है। निर्गुणपंथियों में ही सुंदरदास भी आते हैं जो दो अर्थों में विशिष्ट माने गये हैं–एक तो इन्हें समुचित शिक्षा मिली थी और काव्यकला की रीति से भी इनका अच्छा परिचय था। इनकी रचना साहित्यिक और सरस है। भाषा भी काव्य की मंजी हुई ब्रजभाषा है–

बोलिए तौ तब जब बोलिबे की बुद्धि होय,
ना तो मुख मौन गहि चुप होय रहिए।
जोरिए तो तब जब जोरिबै की रीति जानै,
तुक छंद अरथ अनूप जामे लहिए।
गाइए तौ तब जब गाइबे को कंठ होय,
श्रवन के सुनतहीं मनै जाय गहिए।
तुकभंग, छंदभंग, अरथ मिलै न कछु,
सुंदर कहत ऐसी बाणी नहिं कहिए॥

हाँ, सूफी कवियों के यहाँ ब्रजभाषा का प्रयोग जरूर शिथिल होता है, पर उसका कारण आचार्य शुक्ल के अनुसार साहित्येतर है। नूर मुहम्मद के प्रसंग में शुक्ल जी कहते हैं कि इनका एक और ग्रंथ फारसी अक्षरों लिखा मिला है, जिसका नाम है 'अनुराग बांसुरी'। यह पुस्तक कई दृष्टियों से विलक्षण है। पहली बात इसकी भाषा सूफी रचनाओं से बहुत अधिक संस्कृतगर्भित है। दूसरी बात है हिंदी भाषा के प्रति मुसलमानों का भाव। 'इंद्रावती' की रचना करने पर शायद नूर मुहम्मद को समय–समय पर यह उपालंभ सुनने को मिलता था कि तुम मुसलमान होकर हिंदी भाषा में रचना करने क्यों गये। इसी से 'अनुराग बांसुरी' के आरंभ में उन्हें यह सफाई देने की जरूरत पड़ी–

जानत है वह सिरजनहारा। जो किछु है मन मरम हमारा॥
हिंदू मग पर पांव न राखेउं। का जौ बहुतै हिन्दी भाखेउ॥

चौपाइयों के बीच–बीच में इन्होंने दोहे न लिखकर बरवै रखे हैं। प्रयोग भी ऐसे संस्कृत शब्दों के हैं जो और सूफी कवियों में नहीं आये हैं। काव्यभाषा के अधिक निकट होने के कारण भाषा में कहीं–कहीं ब्रजभाषा के शब्द और प्रयोग भी पाये जाते हैं।

आचार्य शुक्ल के अनुसार वीरगाथाकाल के कवि अपने संकुचित क्षेत्र में काव्यभाषा के पुराने रूप को लेकर एक विशेष शैली की परंपरा निभाते आ रहे थे। चलती भाषा

का संस्कार और समुन्नति उनके द्वारा नहीं हुई। भक्तिकाल में आकर भाषा के चलते रूप को समाश्रय मिलने लगा। साहित्य की भाषा में, जो वीरगाथाकाल के कवियों के हाथ में बहुत–कुछ अपने पुराने रूप में ही रही, प्रचलित भाषा के संयोग से नया जीवन सगुणोपासक कवियों द्वारा प्राप्त हुआ। भक्त सूरदास जी ब्रज की चलती भाषा को परंपरा से चली आती हुई काव्यभाषा के बीच पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करके साहित्यिक भाषा को लोकव्यवहार के मेल में लाये। उन्होंने परंपरा से चली आती हुई काव्यभाषा को एक नया चलता रूप दिया। तुलसीदास का ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। ब्रजभाषा का जो माधुर्य हम सूरसागर में पाते हैं वही माधुर्य और भी संस्कृत रूप में हम गीतावली और कृष्णगीतावली में पाते हैं। आचार्य शुक्ल ने यहाँ भी एक महत्वपूर्ण टिप्पणी की है कि 'गीतावली' की रचना गोस्वामी जी ने सूरदास जी के अनुकरण पर की है। स्वामी अग्रदास और फिर उनके शिष्य नाभादास ने ब्रजभाषा में अधिकारपूर्वक कविता की है। नाभादास ने दो 'अष्टयाम' भी बनाये–एक ब्रजभाषा गद्य में, दूसरा रामचरितमानस की शैली पर दोहा–चौपाइयों में।

सूरसागर के पदों के संबंध में सबसे पहली बात शुक्ल जी के अनुसार ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्य रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं। यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यपूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की श्रृंगारी और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी–सी जान पड़ती हैं। अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य परंपरा का–चाहे वह मौखिक ही रही हो–पूर्ण विकास–सा प्रतीत होता है। इस चली आती हुई गीतकाव्य की परंपरा को पहचाना भी है शुक्ल जी ने–"पश्चिमी हिन्दी बोलने वाले सारे प्रदेशों में गीतों की भाषा ब्रज ही थी। दिल्ली के आसपास भी गीत ब्रजभाषा में ही गाये जाते थे, यह हमें खुसरो (संवत् 1340) के गीतों में दिखा आये हैं। कबीर (संवत् 1560) के प्रसंग में कहा जा चुका है कि उनकी साखी की भाषा तो 'सधुक्कड़ी' है, पर पदों की भाषा काव्य में प्रचलित ब्रजभाषा है।"

अष्टछाप के कवियों में 'और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया' वाले कवि नंददास की भाषा भी बड़ी सरस और मधुर है–"सूर ने स्वाभाविक चलती भाषा का ही अधिक आश्रय लिया है, अनुप्रास और चुने हुए संस्कृत पदविन्यास आदि की ओर प्रवृत्ति नहीं दिखाई है, पर नंददास जी में ये बातें पूर्ण रूप से पायी जाती हैं।"

परमानंददास अत्यंत ही तन्मयता के साथ बड़ी सरल कविता करते थे–

कहा करौ बैकुंठहि जाय ?
जहं नहिं नंद, जहां न जसोदा, नहिं जहं गोपी ग्वाल न गाय।
जहं नहिं जल जमुना को निर्मल और नहीं कदमन की छांय।
परमानंद प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय।

कुंभनदास का पद तो सबको कंठस्थ ही रहता है–

संतन को कहा सीकरी सों काम ?

आवत जात पनहियां टूटी, बिसरि गयो हरि नाम॥

जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिवे परी सलाम।

कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम॥

कुंभनदास के पुत्र चतुर्भुजदास की भाषा चलती और व्यवस्थित है। अष्टछाप के और कवियों की–सी मधुरता और सरसता इनके पदों में भी पायी जाती है–

हे विधना तोसों अंचरा पसारि मांगों

जनम–जनम दीजो याही ब्रज बसिबो॥

गोविंदस्वामी कवि होने के अतिरिक्त बड़े पक्के गवैये थे। तानसेन कभी–कभी इनका गाना सुनने के लिए आया करते थे।

हितहरिवंश के द्वारा ब्रजभाषा की काव्यश्री के प्रसार में बड़ी सहायता पहुँची। अपनी रचना की मधुरता के कारण हितहरिवंश जी श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार कहे जाते हैं। मीराबाई के कुछ पद तो राजस्थान मिश्रित भाषा में हैं और विशुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा में। पर सबमें प्रेम की तल्लीनता समान रूप से पायी जाती है। रसखान की भाषा बहुत चलती, सरल और शब्दाडंबरमुक्त होती थी। शुद्ध ब्रजभाषा का जो चलतापन और सफाई इनकी और घनानंद की रचनाओं में है वह अन्यत्र दुर्लभ है–

मानुष हों तो वही रसखान बसौं संग गोकुल गांव के ग्वारन।

जौ पसु हों तो कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझारन॥

पाहन हों तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरंदर धारन॥

अनुप्रास की सुंदर छटा होते हुए भी भाषा की चुस्ती और सफाई कहीं नहीं जाने पायी है।

आचार्य शुक्ल ने इन कवियों के संबंध में यह महत्वपूर्ण टिप्पणी की है कि "ये कृष्णभक्त कवि हमारे साहित्य में प्रेममाधुर्य का जो सुधास्रोत बहा गये हैं, उनके प्रभाव से हमारे काव्यक्षेत्र में सरसता और प्रफुल्लता बराबर बनी रहेगी। 'दुःखवाद' की छाया आ–आकर भी टिकने न पायेगी।"

प्रायः ब्रजभाषा काव्य का प्रसंग आते ही हिंदी साहित्य के इतिहास के रीतिकाल का संदर्भ लिया जाता है। हालांकि, भाषा–सौष्ठव की दृष्टि से आचार्य शुक्ल की मान्यता अलग है। उनका कहना है कि रीतिकाल में एक बड़े भारी अभाव की पूर्ति हो जानी चाहिए थी, पर वह नहीं हुई। भाषा जिस समय सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुँची उसी समय व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिए थी

कि जिससे उस च्युतसंस्कृति दोष का निराकरण होता जो ब्रजभाषा काव्य में थोड़ा–बहुत सर्वत्र पाया जाता है और नहीं तो वाक्य दोषों का पूर्ण रूप से निरूपण होता, जिससे भाषा में कुछ और सफाई आती। यदि शब्दों के रूप स्थिर हो जाते और शुद्ध रूपों के प्रयोग पर जोर दिया जाता तो शब्दों को तोड़–मरोड़ कर विकृत करने का साहस कवियों को न होता। पर इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं हुई, जिससे भाषा में बहुत कुछ गड़बड़ी बनी रही।

उनकी दृष्टि में भाषा की गड़बड़ी का एक व्याकरण ब्रज और अवधी इन दोनों काव्यभाषाओं का कवि की इच्छानुसार सम्मिश्रण भी था। मिली–जुली भाषा के प्रमाण में दास जी कहते हैं कि तुलसी और गंग तक ने, जो कवियों के शिरोमणि हुए हैं, ऐसी भाषा का व्यवहार किया है–

तुलसी गंग दूवौ भए, सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली, भाषा विविध प्रकार॥

इस सीधे–सादे दोहे का जो यह अर्थ लें कि तुलसी और गंग इसीलिए कवियों के सरदार हुए कि उनके काव्यों में विविध प्रकार की भाषा मिली है, उनकी समझ को क्या कहा जाय ? भाषा संबंधी और अधिक मीमांसा न होने के कारण कवियों ने अपने को अन्य बोलियों के शब्दों तक ही परिमित नहीं रखा; उनके कारक चिह्नों और क्रिया के रूपों का भी वे मनमाना व्यवहार बराबर करते रहे। ऐसा वे केवल सौंदर्य की दृष्टि से करते थे, किसी सिद्धांत के अनुसार नहीं। 'करना', के भूतकाल के लिए वे छंद की आवश्यकता के अनुसार 'कियो', 'कीना', 'कर्यो', 'करियो', 'कीन' यहाँ तक कि 'किय' तक रखने लगे। इसका परिणाम वह हुआ कि भाषा को वह स्थिरता न प्राप्त हो सकी जो किसी साहित्यिक भाषा के लिए आवश्यक है।

भले ही आचार्य शुक्ल की दृष्टि में रीतिकाल में आकर भी भाषा को साहित्यिक भाषा की सी स्थिरता नहीं मिली हो परंतु रीतिकालीन कवियों की भाषा संबंधी उनकी ही की गई टिप्पणियों से इसका प्रमाण नहीं मिलता।

उनके अनुसार भाषा पर सेनापति का सा अधिकार कम कवियों का देखा जाता है। इनकी भाषा में बहुत कुछ माधुर्य ब्रजभाषा का ही है, संस्कृत पदावली पर अवलंबित नहीं। अनुप्रास और यमक की प्रचुरता होते हुए भी कहीं भद्दी कृत्रिमता नहीं आने पायी है। चिंतामणि की भाषा ललित और सानुप्रास होती थी। अवध के पिछले कवियों की भाषा देखते हुए इनकी ब्रजभाषा विशुद्ध दिखाई पड़ती है। वे वास्तव में एक उत्कृष्ट कवि थे।

बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूप का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में

पायी जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़–मरोड़ कर विकृत करने की आदत बहुत पायी जाती है। 'भूषण' और 'देव' ने शब्दों का बहुत अंग–भंग किया है और कहीं–कहीं गढ़त शब्दों का व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है। मंडन की भाषा बड़ी स्वाभाविक, चलती और व्यंजनापूर्ण होती थी। उसमें और कवियों का सा शब्दाडंबर नहीं दिखाई पड़ता। मतिराम की रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसकी सरलता अत्यंत स्वाभाविक है, न तो उसमें भावों की कृत्रिमता है, न भाषा की। भाषा शब्दाडंबर से सर्वथा मुक्त है। केवल अनुप्रास के चमत्कार के लिए अशक्त शब्दों की भर्ती कहीं नहीं है। जितने शब्द और वाक्य हैं, वे सब भावव्यंजना से ही प्रयुक्त हैं। रीति ग्रंथ वाले कवियों में इस प्रकार की स्वच्छ, चलती और स्वाभाविक भाषा कम कवियों में मिलती है। सारांश यह कि मतिराम की–सी रसस्निग्ध और प्रसादपूर्ण भाषा रीति का अनुसरण करने वाले बहुत ही कम मिलते हैं। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में पद्माकर को छोड़ और किसी कवि में मतिराम की–सी चलती भाषा और सरल व्यंजना नहीं मिलती। कुलपति मिश्र ब्रजमंडल के निवासी थे अतः इनको ब्रज की चलती भाषा पर अच्छा अधिकार होना ही चाहिए। नेवाज की भाषा बहुत परिमार्जित व्यवस्थित और भावोपयुक्त है। उसमें भरती के शब्द और वाक्य बहुत ही कम मिलते हैं। दास जी ने साहित्यिक और परिमार्जित भाषा का व्यवहार किया है। भाषा में शब्दाडंबर नहीं है। न ये शब्द चमत्कार पर टूटे हैं, न दूर की सूझ के लिए व्याकुल हुए हैं। जिस बात को ये जिस ढंग से–चाहे वह ढंग बहुत विलक्षण न हो–कहना चाहते थे उस बात को उस ढंग से कहने की पूरी सामर्थ्य इनमें थी। सोमनाथ में भावुकता और सहृदयता पूरी थी, इससे इनकी भाषा में कृत्रिमता नहीं आने पायी। सघन और पेचीले मजमून गांठने के फेर में न पड़ने के कारण इनकी कविता को साधारण समझना सहृदयता के सर्वथा विरूद्ध है।

बेनी प्रवीन की भाषा बहुत साफ सुथरी और चलती है, बहुतों की भाषा की तरह लद्दू नहीं। भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर इस कवि का अधिकार दिखाई पड़ता है। कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भावभरी प्रेममूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासों की मीलित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीरदर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती हुई और कड़कती हुई चलती है और कहीं प्रशांत सरोवर के समान स्थिर और गंभीर होकर मनुष्य जीवन को विश्रांति की छाया दिखाती है। सारांश यह कि इनकी भाषा में वह अनेकरूपता है जो एक बड़े कवि में होनी चाहिए। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदासजी में दिखाई पड़ती है। प्रतापसाहि की भाषा में बड़ा भारी गुण यह है कि यह बराबर एक समान चलती है–उसमें न कहीं कृत्रिम आडंबर का अड़ंगा है, न गति का शैथिल्य और

न शब्दों की तोड़–मरोड़। आलम की भाषा परिमार्जित और सुव्यवस्थित है गुरू गोविन्द सिंह प्रौढ़ साहित्यिक ब्रजभाषा लिखते थे। घनानंद साक्षात् रसमूर्ति और ब्रजभाषा काव्य के प्रधान स्तंभों में हैं। इनकी सी विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी ब्रजभाषा लिखने में और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ। विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य भी अपूर्व ही है। भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवर्तिनी हो गयी थी कि ये उसे अपनी अनूठी भावभंगिमा के साथ–साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप में मोड़ सकते थे। उनके हृदय का योग पाकर भाषा की नूतन गतिविधि का अभ्यास हुआ और वह पहले से कहीं अधिक बलवती दिखाई पड़ी। जब आवश्यकता होती थी तब ये उसे बंधी प्रणाली पर से हटाकर अपनी नई प्रणाली पर ले जाते थे। भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम न चलाकर इन्होंने उसे अपनी ओर से नयी शक्ति प्रदान की है।

'सनेहसागर' के रचनाकार बख्शीं हंसराज की भाषा बहुत ही मधुर, सरस और चलती है। भाषा का ऐसा स्निग्ध सरल प्रवाह बहुत ही कम देखने में आता है। पदविन्यास अत्यन्त कोमल और ललित है। कृत्रिमता लेश मात्र नहीं। अनुप्रास बहुत ही संयत मात्रा में और स्वाभाविक हैं। माधुर्य प्रधानतः संस्कृत की पदावली का नहीं, भाषा की सरल सुबोध पदावली का है। भाषा सब प्रकार से आदर्श भाषा है। ब्रजवासीदास की भाषा सीधी सादी, सुव्यवस्थित और चलती हुई है। व्यर्थ शब्दों की भरती न होने से उसमें सफाई है। गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव ने मिलकर महाभारत का अनुवाद किया है। इनकी भाषा प्रांजल और सुव्यवस्थित है। बोलचाल की चलती भाषा में भाव को ज्यों–का–त्यों सामने रख देना ठाकुर का लक्ष्य रहा है। ब्रजभाषा की श्रृंगारी कविताएँ प्रायः स्त्री–पात्रों के ही मुख की वाणी होती हैं अतः स्थान–स्थान पर लोकोक्तियों का जो मनोहर विधान इस कवि ने किया उनसे उक्तियों में और भी स्वाभाविकता आ गयी है। यह एक अनुभूत बात है कि स्त्रियाँ बात–बात में कहावत कहा करती हैं। उनके हृदय के भावों की भरपूर व्यंजना के लिए ये कहावतें मानो एक संचित वाङ्मय हैं। चंद्रशेखर का साहित्यिक भाषा पर बड़ा भारी अधिकार था। बाबा दीनदयाल गिरि का भाषा पर बहुत ही अच्छा अधिकार था। इनकी–सी परिष्कृत, स्वच्छ और सुव्यवस्थित भाषा बहुत थोड़े कवियों की है। भारतेन्दु के पिता गिरिधरदास ब्रजभाषा के बहुत ही प्रौढ़ कवि थे। ब्रजभाषा के श्रृंगारी कवियों की परंपरा में द्विजदेव को अंतिम प्रसिद्ध कवि समझना चाहिए। इनमें बड़ा भारी गुण है भाषा की स्वच्छता।

रीतिकाल को आचार्य–कवियों का समय भी माना गया है किंतु आचार्य शुक्ल की राय है कि आचार्यत्व के पद के अनुरूप कार्य करने में रीतिकाल के कवियों में पूर्ण रूप

से कोई समर्थ नहीं हुआ। कुलपति और सुखदेव ऐसे साहित्यशास्त्र के अभ्यासी पंडित भी विशद रूप में सिद्धांतनिरूपण का मार्ग नहीं पा सके। संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न–भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे। हिंदी काव्य क्षेत्र में यह भेद लुप्त–सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन या पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग एक ही दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कविकर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खंडन–मंडन, नये–नये सिद्धांतों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ। इसका कारण यह भी था कि उस गद्य का विकास नहीं हुआ था। जो कुछ लिखा जाता था वह पद्य में ही लिखा जाता था। पद्य में किसी बात की सम्यक् मीमांसा या उस पर तर्क–वितर्क हो नहीं सकता। उनके अनुसार बात यह थी कि एक तो ब्रजभाषा का विकास काव्योपयोगी रूप में ही हुआ, विचार पद्धति के उत्कर्ष साधन के योग्य वह न हो पायी। दूसरे उस समय पद्य में ही लिखने की परिपाटी थी। आचार्य शुक्ल को ऐसा जान पड़ता है कि इस काल में जिस मधुर रूप में ब्रजभाषा का विकास हुआ वह सरल व्यंजना के तो बहुत ही अनुकूल हुआ पर जटिल भावों और विचारों के प्रकाश में वैसा समर्थ नहीं हुआ।

ब्रजभाषा काव्य की यह परंपरा रीतिकाल में ही रुक नहीं गई। आधुनिक काल में पहले तो भारतेन्दु मंडल के कवियों के द्वारा और फिर महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग में विभिन्न ऐसे कवियों द्वारा जो उनके मंडल के बाहर रखे गए हैं ब्रजभाषा में कविता की परंपरा न केवल बनी रही, बल्कि अपने भाव–विचार–अभिव्यंजनापद्धति आदि सभी दृष्टियों से नवीन रूप में सामने आती है। आचार्य शुक्ल ने बताया है कि बाद के दौर में गद्य के आविर्भाव और विकासकाल से लेकर अब तक कविता की वह परंपरा भी चलती आ रही है जिसका वर्णन भक्तिकाल और रीतिकाल के भीतर हुआ है। भक्तिकाल के भजनों, राजवंश के ऐतिहासिक चरितकाव्यों, अलंकार और नायिका भेद के ग्रंथों तथा श्रृंगार और वीर रस के कवित्त, सवैये और दोहों की रचना बराबर होती आ रही है। ब्रजभाषा काव्य की परंपरा गुजरात से लेकर बिहार तक और कुमायूँ, गढ़वाल से लेकर दक्षिण भारत की सीमा तक बराबर चलती आयी है "काश्मीर के किसी ग्राम के रहने वाले ब्रजभाषा के एक कवि का परिचय हमें जंबू में किसी महाशय ने दिया था और शायद उनके दो–एक सवैये भी सुनाये थे।"

इस प्रकार की कविता को आचार्य शुक्ल अपने इतिहास में 'पुरानी धारा' के अंतर्गत रखते हैं। इस पुरानी धारा के कवियों की प्रशंसा जिन शब्दों में आचार्य शुक्ल ने की है वह इस कविता की शक्ति और सामर्थ्य का परिचायक है। उनके अनुसार

ब्रजभाषा की सहज मिठास राजा लक्ष्मण सिंह की वाणी से टपकी पड़ती है। भारतेन्दु जी ने जिस प्रकार हिन्दी गद्य की भाषा का परिष्कार किया, उसी प्रकार काव्य की ब्रजभाषा का भी–

प्रिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अंखियां दुखिया नहि मानति हैं।

इस कड़ी में आचार्य शुक्ल ने अम्बिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, ठाकुर जगमोहन सिंह, लाला सीतराम और हरिऔध आदि कवियों की चर्चा की है। उनके अनुसार खड़ी बोली की कविताओं की अपेक्षा पाठक जी की ब्रजभाषा की कविताएँ ही अधिक सरस, हृदयग्राहिणी और उनकी मधुर स्मृति को चिरकाल तक बनाये रखने वाली हैं। जैसी मधुर और रसभरी ब्रजभाषा उनके 'ऋतुसंहार' के अनुवाद में है, वैसी पुरानी कवियों में किसी–किसी की ही मिलती हैं। रत्नाकार का स्थान ब्रजभाषा की पुरानी परिपाटी के कवियों में बहुत ऊँचा माना जाता है। देवीप्रसाद पूर्ण, वियोगी हरि–ऐसे प्रेमी रसिक जीव इस रूखे जमाने में कम दिखाई पड़ते हैं। दुलारेलाल भार्गव–देशभक्ति, अछूतोद्धार, राष्ट्रीय आंदोलन इत्यादि की भावना का अनूठेपन के साथ समावेश करके इन्होंने पुराने सांचे में नया मसाला ढालने की अच्छी कला दिखाई। आधुनिक विषयों को लेकर कविता करने वाले कई कवि जैसे नाथूराम शंकर, लाला भगवानदीन, पुरानी परिपाटी की बड़ी सुंदर कविता करते थे। इस धारा की चर्चा का अंत आचार्य शुक्ल इस वाक्य से करते हैं "ब्रजभाषा काव्य–परंपरा किस प्रकार जीती–जागती चल रही है, यह हमारे वर्तमान कवि सम्मेलनों में देखा जा सकता है।" खेद है कि इस जीती–जागती ब्रजभाषा काव्य परंपरा को परवर्ती हिंदी साहित्य से ओझल ही रखा गया है।

ब्रज की भक्तिकालीन हिंदी कविता

–सत्य प्रकाश पाल

जब भी हम किसी विधा के बारे में बात करते हैं तो उसकी भाषायी अस्मिता की बात स्वतः छिड़ जाती है। भाषा की संरचना के बिना किसी भी विधा की कल्पना करना ठीक वैसा ही है जैसे कि बिना औजार के पत्थर की शिलाओं में मूर्ति का प्रतिरूप स्थापित करना। जब हम ब्रज की भक्तिकालीन हिंदी कविता पर बात करने जा रहे हैं तो ब्रज का भाषायी इतिहास और उसकी परंपराओं पर भी दृष्टि डालना जरूरी हो जाता है। डॉ. धीरेंद्र वर्मा ब्रजभाषा साहित्य का वास्तविक प्रारंभ सन् 1519 ई. से मानते हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने गोवर्धन में श्रीनाथजी के मंदिर के पूरा होने पर मंदिर में कीर्तन की व्यवस्था की। भगवान के समक्ष विकसित रूप में कीर्तन करने वाले गायकों को रखा जो कि पद की रचना भी करते और उसी का गान भी करते। डॉ. दीनदयाल के मतानुसार वल्लभाचार्य संवत् 1541 में ब्रज गए और वहाँ श्रीनाथजी का मंदिर बनवाया और वहाँ से भक्तिकालीन हिंदी कविता की रचनाओं का सिलसिला शुरू हुआ। जबकि डॉ. धीरेंद्र वर्मा के मतानुसार संवत् 1556 बैसाख सुदी 3 रविवार को गोवर्द्धन में श्रीनाथजी के विशाल मंदिर की नींव रखी गई थी। अतः यही साहित्यिक ब्रजभाषा के शिलान्यास की औचित्य तिथि मानी जा सकती है। ब्रजभाषा के विकास और उत्कर्ष–साधन में कृष्ण भक्ति का बहुत बड़ा हाथ है। वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ के शिष्यों ने कृष्ण–भक्ति में विभोर हो पदों की रचना की और ब्रजभाषा–साहित्य प्रकारांतर से समृद्ध हुआ। इन भक्तों के गीतों में एक अपूर्व माधुर्य और काव्योत्कर्ष है। इन सभी गुणों के कारण ब्रजभाषा का व्यापक प्रभाव पड़ा है।

उत्तरी भारत को अत्यधिक प्रभावित करने वाली भक्ति की धारा दक्षिण से आई। इस भक्ति धारा ने जैसे उत्तर भारत की जनता में नए प्राण का संचार किया। उस काल के दो आचार्यों–रामानंद (पंद्रहवीं शताब्दी) और महाप्रभु वल्लभाचार्य (सोलहवीं शताब्दी) ने भक्ति की प्रबल धारा बहा दी। रामानंद के शिष्यों में राम के उपासक भक्त थे। जो कि दो धारा में बँटे हुए थे। एक तो निर्गुण भाव से उपासना करने वाले दूसरे सगुण भक्ति को अपनाने वाले जिन्होंने राम को अवतार माना। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन किया। कृष्ण–भक्ति का प्रचार महाप्रभु के नाम से जुड़ा हुआ है।

इन्होंने भगवान की लीला का गुणगान करते हुए भगवान के साथ भक्त के निकट–संबंध की भावना की पुष्टि की। वल्लभ–संप्रदाय के भक्त कवियों ने ब्रजभाषा–साहित्य को विशिष्टता प्रदान की। वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने अष्टछाप की स्थापना की। इनमें चार वल्लभाचार्य के शिष्य तथा चार विट्ठलनाथ के शिष्य थे। जिन्होंने भक्तिकालीन हिंदी कविताओं में भाव–विभोर कर देने वाले रस का संचार किया है। इनके नाम है–कुंभनदास, सूरदास, परमानंद दास, कृष्णदास, गोविंद स्वामी, छीत स्वामी, चतुर्भुजदास, नंददास। कहने का तात्पर्य यह है कि इन सभी संत कवियों ने भगवान की रूप–माधुरी और उनका लीलागान करते हुए ब्रज साहित्य व काव्य को समृद्ध किया। कुंभनदास अकबर के निमंत्रण पर पैदल ही फतेहपुर सीकरी चले गए थे जिस पर अफसोस करते हुए लिखते हैं–

"संतन को कहा सीकरी सों काम।

आवत जात पन्हैया टूटी बिसरि गयो हरि नाम।"

इन पंक्तियों से यह साफ स्पष्ट हो रहा है कि भक्तिकालीन संत कवियों को सांसारिक तामझाम चमक–दमक से कोई मतलब नहीं था बल्कि इस तरह के झमेलों से वो बचकर सिर्फ हरि गुणगान में तल्लीन रहना पसंद करते थे। इस तरह की भक्ति कविता से सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक हर पक्ष और क्षेत्र पर गहरा प्रभाव पड़ा।

जैसा कि हम ऊपर ही विचार कर चुके हैं कि ब्रज की भक्तिकालीन हिंदी कविताओं में एक से बढ़कर एक प्रखर कवि उभर कर अपनी भक्ति भाव–भंगिमाओं को पन्नों पर अंकित करते गए जिनमें श्रेष्ठतम नाम महाकवि सूरदासजी का है। सूरदासजी के बारे में स्वयं आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखा है–"वात्सल्य और श्रृंगार के क्षेत्र का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने बंद आँखों से किया, उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना–कोना वे झाँक आए। वहीं दूसरी ओर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है–

"सूरदास जब अपने विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकार शास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाी है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं बह जाता है।"

यों तो सूरदास द्वारा रचित लगभग पच्चीस ग्रंथ बताये गये हैं जिसमें कि तीन ही उपलब्ध है–सूरसागर, सूरसारावली और साहित्य लहरी। इन्हीं ग्रंथों से उद्धरित कुछ पदों पर चर्चा करते हैं।

"नाहिन रह्यौ मन में ठौर।
नंद नंदन बिना कैसे आनिए उर और॥
चलत, चितवत, द्यौस जागत, स्वप्न सोवत रात।
हृदय तें वह मदन मूरति, छिनु न इत–उत जात॥
कहत कथा कनेक ऊघौ, लाख लोभ दिखाय।
कहा करौं 'चित प्रेम पूरन', घट न सिंधु समाय॥
स्याम गात, सरोज आनन, ललित गति, मृदु हास।
'सूर ऐसे दरश को, ये मरत लोचन प्यास॥'"

सूरदासजी ने भगवान कृष्ण की विविध लीलाओं का जो गान किया है, वह भक्ति–काव्य की एक श्रेष्ठ निधि है। उन्होंने ईश्वर के प्रति समग्र रूप से खुद को समर्पित करके मानो सब कुछ पा लिया है। लेकिन आत्म–समर्पण ने उनकी प्यास और भी ज्यादा बढ़ा दी है। कृष्ण की मूर्ति को हर समय पास रखने पर भी वह प्यास नहीं मिटती और उनका भक्त–हृदय गा उठता है।

नंद और यशोदा के रूप में सूरदास का भक्त हृदय वात्सल्य से परिपूरित है। यशोदा पालना झुलाकर लोरी गाकर बाल कृष्ण को सुलाने का प्रयास करती हैं, कभी भगवान से उनकी मंगल–कामना करती हैं, तो कभी नंद बाबा हाथ पकड़ कर उन्हें चलना सिखाते हैं, तो कभी उनकी 'दंतुलियों' को देखकर आनंदित होते हैं।

"यशोदा हरि पालनै झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोई–सोई कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहैं न आनि सुवावै॥
तू काहें नहिं वेगहिं आवै, तोकौं कान्ह बुलावै।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि कितना व्यापक और प्रगाढ़ करुणामयी भक्ति का संचार सूरदास की कविता में रचा और बसा है।

सूरदास का 'भ्रमरगीत' वियोग–श्रृंगार के वर्णनों में बेजोड़ है। उद्धव को देखकर गोपियाँ उल्टी सीधी सब सुना डालती हैं। कृष्ण के सखा होने के नाते उद्धव गोपियों के लिए भी प्रिय तो हैं परंतु कभी वे उन्हें बनाती हैं, कभी जली–कटी सुनाती हैं और कभी अपनी दयनीयता पर रो पड़ती हैं।

"ऊधौ अब नहीं स्याम हमारे ....."

कहते हैं कि सूरदास ने सवालाख भजन (पद) का अपने मन में संकल्प लिया था, पर लाख तक पहुँचे–पहुँचते अपने शरीर का त्याग कर दिया था।

ब्रज की भक्तिकालीन हिंदी कविताओं में जो रसराग, जो आत्मीयता है वह अतिदुर्लभ है।

"चौरासी वैष्णवन की वार्ता में" 'परमानंद दास' की भक्ति में तल्लीन बहुत सारे पद इंगित है। परमानंद दास ने एक पद में मानो मधुर–भक्ति के स्वरूप का निरूपण किया है। कृष्ण के प्रति यह प्रेम अपने आप में पूर्ण है। सांसारिक प्रेम को सामने रखकर उसे समझने का प्रयास व्यर्थ है–

"मैं तो प्रीति स्याम सों कीनी।
कोऊ निंदौ कोऊ बंदौ, अब तो यह धरि दीनी।
जौ पतिव्रत तो या ढोटा सों इन्हें समपर्यो देह।
जो व्यभिचार तौं नंदनंदन सों बाढ्यो अधिक स्नेह।
जो व्रत गह्यो सो और न भायो, मर्यादा को भंग।
परमानंद लाल गिरिधर को पायो मोटो संग।"

इसी तरह भक्तमाल में महाकवि कृष्णदास की भक्तिमय पद को देख सकते हैं–

"कमल मुख देखत कौन अघाय।
सुन री सखी! लोचन अलि मेरे, मुदित रहे अरुझाय।
मुक्तमाल लाल उर ऊपर जनु फूली बन जाय।
गोवर्धन के अंग–अंग पर, कृष्णदास बलिजाय।"

कितना प्रेम, कितना लगाव, कितना रुझान है इन पंक्तियों में कि कृष्ण के कमल–मुख को बराबर देखते रहने पर भी कृष्णदास की आँखें अतृप्त ही बनी रहती हैं। उनके अंग–अंग की छवि पर उनका भक्त–हृदय न्योछावर है।

चतुर्भुजदास के द्वारा रचित एक पद पर भी दृष्टिपात करते हैं–

"जसोदा! कहा कहौं हौं बात।
तुम्हरे सुत के करतब मो पै कहत कहे नहिं जात॥
भाजन फोरि, ढारि सब गोरस, लै माखन दधि खात।
जौ बरजौं तौ आँखि दिखावै, रंचहु नाहिं सकात॥
और अटपटी कहँ लौ बरनौं, छुवत पानि सों गात।
दास चतुर्भुज गिरिधर गुन हौं कहति कहति सकुचात॥"

कृष्ण की बाल नटखट लीला का बखान करते हुए चतुर्भुजदास जी जहाँ सकुचा रहे हैं वही अष्टछाप के और कवियों सी मधुरता और समरसता छीतस्वामी के पदों में भी पाई जाती है। छीतस्वामी के एक पद पर भी दृष्टि डालते हैं–

"भोर भए नवकुंज सदन तें, आवत लाल गोवर्द्धनधारी।
लटपट पाग मरगजी माला, सिथिल अंग डगमग गति न्यारी॥"
बिनु गुन माल बिराजति उर पर, नखछत द्वैज चंद अनुहारी।
छीतस्वामी जब चितए मो मन, तब हौं निरखि गई बलिहारी॥

भक्तिकालीन हिंदी कविता में कृष्ण भक्ति की अधिकाधिक कविताएँ ब्रजभाषा में ही उपलब्ध हैं। सोलहवीं शताब्दी में भक्त कवियों में मीरा के नाम को छोड़ देना मीरा के काव्य के साथ अन्याय होगा। मीरा की रचनाओं में ब्रजभाषा का पुट है वैसे उनके गीतों की भाषा मुख्य रूप से राजस्थानी–गुजराती का मिश्रण है, उनके भी एक पद पर दृष्टिपात करते हैं–

"बसो मेरे नैनन में नंदलाल।"
मोहिनी मूरति, साँवरि सूरति नैना बने बिसाल।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, अरुन तिलक दिए भाल॥
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजंती माल॥
छुद्रघंटिका कटि तट सोभित, नूपुर सबद रसाल॥
मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भक्तबछल गोपाल॥

ब्रजभाषा के कवियों में नाभादास और नरोत्तमदास के भी नाम लिए जा सकते हैं क्योंकि नाभादास का 'भक्तमाल' भी ब्रजभाषा में लिखा गया है हालांकि भक्तमाल भक्तों की जीवनी पद्धति में लिखी गई है तथापि इसे नजरअंदाज करना उचित न होगा। नरोत्तमदास का 'सुदामाचरित' ब्रजभाषा के काव्य–साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है क्योंकि यह ब्रजभाषा का एक अत्यंत ही सुंदर खंडकाव्य है।

रामभक्ति शाखा के महाप्राण, महानायक महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जिन्होंने रामचरित मानस जैसे लोकमंगलकारी महाकाव्य की रचना अवधी भाषा में की वहीं भगवान श्रीकृष्ण से संबंधित 'श्रीकृष्णगीतावली' की रचना उन्होंने विशुद्ध ब्रजभाषा में की है। इसमें कुल 61 पद हैं। कुछ पद श्रीकृष्ण की बाल–लीला संबंधी हैं और कुछ पद भ्रमर–गीत की परंपरा के हैं जिनमें गोपियाँ उद्धव से अपने हृदय के उदगार प्रकट कर रही हैं।

गोपी विरह का एक पद देखते हैं–

"बिछुरत श्रीब्रजराज आज इन नयन की प्रतीति गईं।
उड़ि न लगे हरि संग सहज तजि, है न गए सखि स्याममई॥

रूपरसिक लालची कहावत, सो करनी कछु तौन भई।
साँचेहुँ कूर कुटिल, सित मेचक, वृथा मीन छवि छीन लई॥
अब काहे सोचत मोचत जल, समय गए चित सूल गई।
तुलसीदास तब अपहुँ से भए जड़, जब पलकनि हठ दगा दई॥"

भक्तिकालीन हिंदी कविताओं का प्रभाव रीतिकालीन कवियों की कृतियों पर भी पड़ा जिसमें केशवदास, चिंतामणि, मतिराम, भूषण, देव, बिहारी, सेनापति, घनानंद का नाम महत्वपूर्ण है।

ब्रजभाषा साहित्य का प्रभाव भारतेंदु हरिश्चंद्र और जगन्नाथदास रत्नाकर की कविताओं पर भी नई प्रवृत्तियों के स्वरूप में दिखाई पड़ता है। कृष्णभक्त कवियों की तरह भारतेंदु ने भी कृष्ण के लीला–विहार का वर्णन बखूबी किया है। उनके सरस कवित्त और सवैयों में उनकी भक्ति के दर्शन होते हैं। ये कवित्त और सवैये उस काल में अत्यंत ही लोकप्रिय माने गए हैं। भारतेंदु कृत एक पद पर भी दृष्टि डालते हैं, जिससे उनके भक्त–हृदय का और ब्रज भाषा का नया रूप का दिखाई देता है–

"वह सुंदर रूप बिलोकि सखि, मन हाथ ते मेरे भग्यौ।
चित्त माधुरी मूरति देखत ही, 'हरिचन्द' जू जाय पग्यौ।
मोहिं औरन सों कछु काम नहीं, अब तो जो कलंक लग्यौ सो लग्यौ।
रंग दुसरो और चढ़ैगो नहीं, अलि, सांवरो रंग रंग्यौ सो रंग्यौ॥"

ब्रज की हिंदी कविता की जो लहरें भक्तिकाल से चलीं वह निरंतर रीतिकाल तक लहराती हुई बढ़ती रहीं मगर भारतेंदु युग आते–आते ब्रजभाषा बल खाने लगी और वह धीरे–धीरे खड़ी बोली का आवरण धारण करने लगी।

ब्रज के भक्तिकालीन काव्य–कवितावली का संदर्भ

–के. श्रीलता विष्णु

भारतीय इतिहास में एक अनुपम सांस्कृतिक संगम पंद्रहवीं–सोलहवीं सदियों में घटित हुआ था। यह सांस्कृतिक संगम अभूतपूर्व था और उसमें संपूर्ण भारत का योग रहा था। यह संगम भारतीय मस्तिष्क और हृदय के अपूर्व सम्मिलन से घटित हुआ था। उस काल में भारत भूमि के उत्तरापथ में किन्हीं प्राचीन कालों में अवतरित हुए महापुरुष समस्त दक्षिणापथ के जनमानस के लिए सुलभ आराध्य देवता हो गए और दक्षिण में आविर्भूत दार्शनिक–विचारक उत्तर भारत के परमाचार्य बन गए। उड़ीसा के जयदेव कवि का गीतगोविन्द दक्षिण देश के मंदिरों में संध्याकीर्तन का संगीत बन गया और केरल के लीला शुक द्वारा रचित 'श्रीकृष्णकर्णामृत' बंगदेशीय महाप्रभु चैतन्य का परमप्रिय पारायणग्रंथ हो गया। श्रीमद् भागवत और अध्यात्म रामायण की कथाएँ भारत की संस्कृत–वाहिनी अमृतधारा बनकर संस्कृत के गिरि–अंचलों से निकलकर भाषा के समतलों में फैलकर बहने लगी और भक्ति भावना ने एक सरल शीतल अनुभूति बनकर संपूर्ण जनजीवन को आप्लावित किया। इस भक्ति के पुलक स्पर्श ने भगवान की समस्त निर्गुणात्मक और सगुणात्मक मानवीय संवेदनाओं को रसासिक्त करके अभिव्यक्ति की नाना भावभूमियों में प्रसारित किया। हिंदी में अनन्य कोटि के निर्गुणोपासक कवि कबीर प्रकट हुए और साथ–साथ कृष्ण कवि सूरदास एवं राम भक्त कवि तुलसीदास उदित हुए। कुछ उसी काल में ही सुदूर दक्षिण देश केरल की भाषा में भी वात्सल्य भाव के रससिद्ध कवि चेरुश्शेरी और महान रामायणकार एषुत्तच्छन पैदा हुए थे। भारत के अन्यान्य भाषा साहित्यों में भी ऐसे ही महान कवियों का आविर्भाव उसी काल में हुआ था। उन सबके प्रभाव से भारत की राष्ट्रीय संस्कृति पूर्णतः एकात्म बन गई और देश एक हो गया। भारतीय जनता के विभिन्न भाषाओं द्वारा विभिन्न बोलियों द्वारा इस भावनात्मक जागरण और एकीभाव की मूलभूत सांस्कृतिक क्रांति को भक्ति आंदोलन के नाम से अभिहित किया गया है। इस आंदोलन की लहरें भारत के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक ऐसी व्याप्त हुई थीं कि उसकी आर्द्रता और प्रभाव से कोई भी प्रदेश या कोई भी भाषा अछूती नहीं रह गयी थी।

ईसा की तीसरी शती से लेकर नवीं शती तक भक्त आलवारों द्वारा तमिल प्रदेश में प्रवाहित कृष्ण भक्ति कतिपय दार्शनिक विचारों का संबल लेकर उत्तर भारत

पहुँची। उत्तर में कृष्णभक्ति का प्रचार–प्रसार ब्रजमंडल में हुआ था। वल्लभाचार्य ने ब्रजमंडल में कृष्ण भक्ति को प्रतिष्ठा दी और उसका दार्शनिक आधार शुद्धाद्वैत दर्शन है। पुष्टिमार्गी अष्टछाप के कवियों ने ब्रज भाषा का पल्लवन किया। अंतर्वेदी नाम से प्रसिद्ध ब्रजभाषा के अन्य नाम 'माथुरी' या 'नागभाषा' है। इसका उद्भव सन् 1000 अर्थात् हिन्दी के उद्भव के साथ ही माना जाता है। प्रारंभ में इसे पिंगल या भाखा कहा जाता था। ब्रजभाषा शब्द का प्राचीनतम प्रयोग सन् 1587 ई. में गोपाल कृत 'रसविलास टीका' में प्राप्त है। दरअसल साहित्यिक भाषा के अर्थ में यह शब्द अठारहवीं शताब्दी से ही व्यापक प्रचलन में आया। ब्रज शब्द का मूल प्रयोग ऋग्वेद में चरागाह के अर्थ में हुआ है। भरतपुरी, डाँगी, माथुरी, कठेरिया, गाँववारी जादोबारी, ढोलपुरी तथा सिकरवाडी इसकी उपबोलियाँ हैं।

यह तो सर्वविदित है कि कृष्ण काव्य द्वारा ब्रजभाषा की अजस्र धारा को प्रवाहित करने वाले मूर्धन्य कवि सूरदास ही है। उनकी सूरसागर, सूरसारावली, साहित्य लहरी, सूर पचीसी, सूर रामायण, सूर साठी और राधा रसकेली आदि रचनाएँ ब्रजभाषा साहित्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। भक्तिकालीन काव्य–भाषा के सिंहासन पर ब्रजभाषा को बिठाकर उसे गौरव–गरिमा प्रदान करने का पूरा श्रेय सूरदास को ही जाता है। स्वरमैत्री एवं गेयता सूर की ब्रजभाषा के अलंकरण है। नगेन्द्र जी का मंतव्य था "ब्रजभाषा को ग्रामीण जनपद से हटाकर सूर ने नगर और ग्राम के सन्धिस्थल पर ला बिठाया था। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग करने पर भी उनकी मूल प्रवृत्ति ब्रजभाषा को सुन्दर और सुगम बनाये रखने की ओर ही थी। ब्रजभाषा की ठेठ माधुरी यदि संस्कृत और अरबी–फारसी के शब्दों के साथ सजीव शैली में जीवित रही है, तो वह सूर की भाषा में ही है।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 202) मुहावरों और लोकोक्तियों का जो सौंदर्य ब्रजभाषा में विद्यमान है उनका मणिकांचन संयोग सूर ने भ्रमरगीत में किया था।

अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी पद रचना के लिए मधुर एवं सुंदर परिचित शब्दों से भरपूर परिमार्जित ब्रज को ही तहेदिल से अपनाया था। अन्य संप्रदायों के असंख्य कवि–भक्त जैसे दक्षिण प्रांत मैसूर में जन्मे निम्बार्काचार्य उनके शिष्य श्रीभट्ट (युगलशतक), हरिव्यास दैव (महावाणी) आदि की कृतियों में ब्रजभाषा का सुंदर परिपाक दर्शनीय है। राधावल्लभ संप्रदाय के उन्नायक हितहरिवंश जी की वाणी में ब्रजभाषा का प्रांजल सौन्दर्य निखरित है। चैतन्य संप्रदाय के रामराय (आदिवाणी गीतगोविन्द भाषा) गदाधर भट्ट (ध्यानमाला) चन्द्रगोपाल (चन्द्रचौरासी, अष्टयाम,

सेवसुधा, ऋतुविहार, राधाविरह) आदि की रचनाएँ भी ब्रजभाषा की माधुर्य भक्ति का भंडार है। राधा–कृष्ण के श्रृंगार केलियों के सांगोपांग वर्णन एवं उसकी कुशल अभिव्यक्ति के लिए व्रजभाषा की भंगिमा अक्षुण्ण है। मीरा बाई के पद की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रज है। परंतु कृष्णभक्त रसखान (सुजान रसखान, प्रेम वाटिका, दानलीला, अष्टयाम) की भाषा परिमार्जित साहित्यिक ब्रज है। माधुर्य एवं प्रसाद गुण के सहज समावेश एवं लाक्षणिकता से ओतप्रोत ब्रजभाषा इनकी कृतियों के प्राण हैं।

रामभक्त कवि गोस्वामी तुलसीदास पर ब्रजभाषा और कृष्णकाव्य का अत्यधिक प्रभाव है। कवि की प्रतिभा का पूर्ण परिचायक है ब्रजभाषा में रचित कवितावली, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, रामगीतावली, कृष्णगीतावली आदि रचनाएँ। तुलसी को ऐसे वैष्णव के रूप में देखा जा सकता है जिसे विष्णु की व्यापकता में पूर्ण विश्वास है। अतः कृष्ण चरित का उद्‌घाटन उन्होंने अपनी कृतियों में किया है। गोस्वामी जी राम और कृष्ण में कोई अंतर नहीं मानते। उन्हें अवतारवाद पर आस्था थी। समीक्षकों के अनुसार कृष्णगीतावली के कई पद सूरसागर से मिलते–जुलते हैं।

तुलसी पर ब्रजभाषा के प्रभाव के बारे में वेणीमाधव दास ने अपने गोसाईं चरित में तुलसीदास का सूरदास से मिलाप होना सन् 1616 में लिखा है।

"सोरह सै सोरह लगै कामदगिरि ढिग बास।
सुचि एकांत प्रदेश मँह, आए सुर सुदास।
कवि सूर दिखायउ सागर को॥"

गोसाईं चरित के अनुसार सूरसागर तुलसीदास के हाथ में आ चुका था, इसी कारण दोनों काव्यों में समानता आ गई थी।

तुलसी का शुद्‌ध ब्रजभाषा में निबंधित उत्कृष्ट राम काव्य है कवितावली। इसका रचनाकाल सन् 1658-1680 के बीच माना जाता है। ब्रजभाषा की छटा से कवितावली के कई प्रसंग मार्मिक बन पड़े हैं। रामचरित मानस के बाद तुलसी के जितने भी ग्रंथ है, उनमें कवितावली का अन्यतम स्थान है।

ऐश्वर्य और शक्ति के अनुपम उदाहरण के रूप में राम का व्यक्तित्व कवितावली में उभर कर आया है। कृष्ण भक्त कवियों द्‌वारा वैष्णव–भक्ति के भीतर भगवान कृष्ण का जो स्वरूप उपस्थित किया गया था वह मुख्यतया सौंदर्यपूर्ण और श्रीसंपन्न था और उनके मधुर जीवन का चित्रण करके उसमें सख्य भाव की भक्ति प्रकट की गई थी। लेकिन राम के चरित्र में मर्यादापुरुषोत्तम का भाव था। अतः कवितावली में दास्य भाव की भक्ति के लिए राम के चरित्र में ऐश्वर्य और शक्ति का चित्रण करना तुलसी

ने आवश्यक समझा होगा। यही कारण है कि कवितावली में राम जीवन की कोमल घटनाओं से अधिक परुष घटनाएँ व्यापक रूप से चित्रित हुई हैं। फलतः इस कृति में राम की वीरता और शौर्य की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। उसी प्रकार दास्य भक्ति के आदर्श राम भक्त हनुमान के शौर्य और पराक्रम का वर्णन भी बड़ी ओजस्वी ब्रजभाषा में इस कृति में किया गया है।

बाल लीला के प्रसंग में तुलसीदास राम आदि चारों बालकों की मधुरता और मनोहरता में निमग्न लगते हैं। उस प्रसंग का वे इस तरह वर्णन करते हैं मानो बच्चे उन्हीं के सामने ही किलकारियाँ करते हुए खेल रहे हैं। वे उनकी शोभा से आत्मविभोर हैं और उनके मनो मंदिर में वे सदा विहार करते रहें, यह प्रार्थना करते हैं–

तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज मंजुलताइ हरैं।
अति सुन्दर सोहत धूरी भरे, छवि भूरी अनंग की दूरि धरैं॥
दमकैं दतियाँ दुति दामिनि ज्यों, किलकैं कल बाल–विनोद करैं।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन–मन्दिर में विहरैं॥

सीता स्वयंवर के प्रसंग पर तुलसी ने सीता जी का जो मुग्धा रूप खींचा है वह एकदम अनुपम है। नव–वधू की उत्सुकता का बड़ा मार्मिक चित्रण यहाँ पर हुआ है–

दूल्ह श्रीरघुनाथ बने, दुल्ही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुन्दरि, वेद जुवा जुरि विप्र पढाहीं॥
राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं।

यहाँ प्रयुक्त 'पल टारति नाहीं' के श्लिष्टार्थ का सौंदर्य पढ़ते ही बनता है।

अयोध्याकाण्ड के वनगमन का वर्णन राम–सीता के पावन प्रेम–प्रसंगों से बड़े ही मार्मिक हैं। एक उदाहरण देखिए–

पुर तें निकसी रघुबीर–बधु, धरि–धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पर सूखि गए मधुराधर वै॥
फिर बूझती है 'चलनो अब केतिक, पर्न कुटी करिहौ कित हैं?'
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलों जल च्वै॥

'चलनों अब केतिक' पूछने वाली सीता की आतुरता कितनी मर्मस्पर्शी है और उससे प्रिय की आँखों के भर आने के वर्णन में कितनी स्वाभाविकता है। वैसे ही वन–मार्ग पर श्यामल और गौर युवकों के बीच चलने वाली सीता से ग्राम–वधूटियाँ बड़े

भोलेपन से यह प्रश्न करती हैं कि 'कहौ साँवर से, सखि वर को हैं?' तब सीता जी द्वारा नयनों के इशारे से राम को अपना पुरुष सूचित करने में और उनके मुस्कुराकर चलने में कितनी स्वाभाविकता है? इसका वर्णन कवि ने यों किया है–

सुनि सुंदर बैन सुधारस–साने, सयानी हैं जानकी जानी भलीं।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हैं समुझाई कछू मुसुकाई चलीं॥

कवितावाली का लंकादहन–वर्णन अपने ढंग का अकेला है। नाना भाव रसों के मार्मिक चित्रण से यह दिल को बड़ी गहराई से छू लेता है। एक ओर वीर रस की प्रतिमूर्ति बने हुए हनुमान विकराल रूप से जलती हुई अपनी विशाल बालधी या पूँछ घुमाते हुए लंका में सब ओर आग की लपटें फैला रहे हैं और दूसरी ओर लंकावासियों की अकुलाहट और कराह आकाश को चीर रही है। यह प्रकरण दीनता और भय की एकांत अनुभूति कराने में अतीव सक्षम है। जहाँ देखो वहाँ हनुमान दिखाई देते हैं। बाहर और भीतर हनुमान का रूप लंकावासी देख रहे हैं–

मूँद आँखि हीय में, उधारे आँखि आगे ठाढ़ो,
धाई जाई जहाँ तहाँ, और कोऊ को किए?

वे एक ओर रावण को कोस रहे हैं और दूसरी ओर करुण–क्रंदन कर रहे हैं। राक्षस और राक्षस स्त्रियाँ अपनी अनाथ अवस्था का कैसे उद्गार व्यक्त कर रहे हैं–

देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं,
कानन उजारयौ अब नगर पजारी है॥

कोमल ब्रजभाषा में भयानक रस का ऐसा ज्वलंत वर्णन समस्त हिंदी साहित्य में अन्यत्र प्राप्त नहीं होता।

वाल्मीकि रामायण में इस प्रसंग का जो वर्णन है उसे नीचे उद्धृत किया जा रहा है–

ततस्तु लङका सहसा प्रदग्धा सराक्षसा साश्वरथा सनागा।
सपक्षिसङघा समृगा सवृक्षा रुरोद दीना तुमुलं सशब्दम्॥
हा तात हा पुत्रक कान्त मित्र हा जीवितेशाङग हतं सुपुश्ण्म्।
रक्षोभिरेव बहुधा ब्रुविद्भिः शब्दः कृतो घोरतरः सुभीमः॥

ऋषि–कवि तो इतना ही यहाँ पर लिखते हैं कि घोड़ों, हाथियों, पशु–पक्षियों, रथों, राक्षसों सहित लंका सहसा जल गई और वहाँ के निवासी दीनता से तुमुलनाद करते हुए रोने लगे। यह कहकर कि हाय रे वण्णा! हाय बेटा! हाय स्वामिन! हा प्राणनाथ! हमारे सब पुण्य नष्ट हो गए।

इस प्रसंग पर अध्यात्म रामायण में तो इतना ही कहा गया है कि प्रासादों में बैठी हुई दैत्य नारियाँ भी हा तात! हा पुत्र! नाथ इत्यादि विलाप करती हुईं इधर–उधर भागने लगीं–

हा तात पुत्र नाथेति क्रन्दमानाः समन्ततः
व्याप्ताः प्रासादशिखेर प्यारूढाः दैत्ययोषितः
देवता इव दृश्यन्ते पतन्त्यः पावके खिलाः,
विभीषणगृहं त्यनत्वा सर्वं भस्मीकृत पुरम्॥

मानस में भी इस प्रसंग को अत्यन्त संक्षेप में ही तुलसीदास प्रस्तुत करते हैं। एक चौपाई में ही पूरे प्रसंग को वे समेट लेते हैं। हनुमान जी अपने विशाल शरीर को बहुत ही हल्का करके एक महल से दूसरे महल पर चढ़ जाते हैं, नगर जल रहा है। लोग बेहाल हो गए हैं। आग में करोड़ों कराल लपट झपट रही हैं। 'हाय बप्पा, हाय मैय्या! इस अवसर पर हमें कौन बचाएगा', यही पुकार सब कहीं सुनाई पड़ रही है। हमने तो पहले ही कहा था कि यह वानर नहीं है, वानर का रूप धर कोई देवता है। साधु के अपमान करने का यह फल है कि नगर अनाथ के घर की तरह जल रहा है। हनुमान जी ने एक ही क्षण में सारा नगर जला डाला। एक विभीषण का घर नहीं जलाया–

जरह नगर भा लोग विहाला। झपट बहु कोटि कराला॥
तात मातु हा सुनिअ पुकारा। एहि अवसर को हमहि उबारा॥
हम जो कहा यह कपि नहीं होई। वानर रूप धरें सुर कोई॥
साधु अवग्या कर फलु ऐसा। जरह नगर अनाथ घर जैसा॥
जारा नगरु निमिष एक माहीं। एक विभीषण कर गृह नाहीं॥

यहाँ उद्धृत इन सारे भागों से अधिक कवितावली में यह प्रसंग अत्यधिक हदयविदारक बन पड़ा है। तुलसी की कवित्व शक्ति का शतदल यहाँ पूर्ण रूप से विकास हुआ है। कवितावली में इस मर्मस्पर्शी प्रसंग को चित्रित करने के लिए अनेक छंद लिखे गए हैं। यहाँ भयानक रस का मानो सर्वग्रासी और सर्वांगीण वर्णन हुआ है। सारे विभावों, अनुभावों और संचारी भावों की पूर्णता के कारण इस रस की तीव्र अनुभूति कराने में तुलसीदास जी अत्यन्त सफल हुए हैं। इस सर्वभक्षी अग्निप्रलय में लंका मानों पिघल कर बूँद–बूँद में बदल गई है लोग इधर–उधर भाग रहे हैं और जलकर राख हो रहे हैं। घोड़े और हाथियों में भी भगदड़ मच जाती है। सारी चीजों को, सारे प्राणियों को वे रौंद डालते हैं। स्त्रियों का हाहाकार सब ओर फैल रहा है। वे अपने लोगों का नाम ले–लेकर चिल्ला रही हैं–

लपट, कराल ज्वालजालमाल दहूँ दिसि,
धूम–अकुलाने, पहिचानै कौन काहि रे ?
पानी को ललात, बिललात, जरे जात गात,
परे पाइमाल जात, भ्रात! तू निबाहि रे॥
प्रिया! तू पराही!! नाथ, नाथ! तू पराटि!? बाप,
बाप! तू पराहि!! पुन, पुन! तू पराहि से॥

आग की कराल लपटें दसों दिशाओं में फैल जाती हैं। धुआँ ऐसे उड़ रहा है कि कोई किसी को पहचान नहीं पाता। पानी के लिए लोग लालायित होकर चिल्ला रहे हैं और इतने में शरीर जलकर गिर पड़ते हैं। कैसा आर्तनाद है! अपने प्रिय पिता और पुत्र का नाम लेते हुए अपने को बचाने की प्रार्थना करने वाली राक्षस नारियों का हृदय को विदीर्ण करने वाला चित्र पूरे लंकादहन के प्रकरण में व्यापक रूप से अंकित है। तुलसी ने पूरी लंका को एक यज्ञकुंड के रूप में कल्पित किया है और सांगरूपक से उसे बड़ा प्रभावी बनाया है। ब्रजभाषा में सांगरूपक जितना जंचता है यह देखते ही बनता है–

तुलसी समिध सौंज लंका–जज्ञकुंद लखि,
जातुधान पुंगीफल जंत, तिल, धान हैं।
स्रुवा सो लंगूल बलमूल, प्रतिकूल हवि,
स्वाहा महा हाँकि हनै हनुमान हैं॥

लंकाकाण्ड में भी इस भयानक रस का व्यापक चित्रण हुआ है। अंगद के लंका प्रवेश के समय ऐसे ही हदय–विदारक दृश्यों से सारी परिस्थिति अत्यंत मर्मस्पर्शी बनी हुई है। अंगद को आते देख भय से कातर बने लोग यह समझ बैठते हैं कि मानों हनुमान ही दुबारा आए हैं और वे पुकार उठते हैं–

आयी! आयो! आयो!!! सोई बानर बहोरि,
भयो सोर चहूँ ओर लंका आए जुबराज के।

उत्तरकाण्ड यद्यपि राम कथा के वर्णन से विरहित है फिर भी कलियुग वर्णन, काशी की महामारी का वर्णन आदि ब्रजभाषा के जरिए उल्लेख्य प्रसंग कवि की मौलिक उद्भावनाओं से पर्याप्त मर्मस्पर्शिता लिए हुए हैं। यहाँ भक्ति और शांत भाव–रसों की अपूर्व गंगा–जमुना प्रवाहित की गई है। काशी में संवत् सोलह सौ उनहत्तर (1669) और इकहत्तर (1671) के बीच घटित हैजा की महामारी का व्यापक चित्र भी उत्तर काण्ड में वर्णित है। स्वयं तुलसीदास इस महामारी की चपेट में आए थे। वे अत्यंत वेदना से भगवान से प्रार्थना करते हैं–

मारिए तो अनायास कासीबास खास फल,
ज्याइए तौ कृपा करि निरुज सरीर हौ॥

ब्रजभाषा की संपन्नता से समृद्ध कवितावली मार्मिक उद्गारों और हृदय–स्पर्शी वर्णनों से अत्यंत प्रभावोत्पादक बनी है।

ब्रजभाषा पर भी तुलसी के बेजोड़ अधिकार को मुखरित करने वाली 'कवितावली' मानस, गीतावली इत्यादि के समकक्ष सहृदयों के व्यापक आदर का भाजन बनी हुई है।

साहित्यिक दृष्टि से ब्रजभाषा अन्य बोलियों की तुलना में सर्वाधिक समृद्ध है। राग–रागिनियों में पद बाँधकर संगीतात्मकता लाने में ब्रजभाषा की शक्ति बेजोड़ है। परवर्ती रीतिकालीन काव्य ने ब्रजभाषा को जो अलंकृत और कलात्मक रूप प्रदान किया वह भी सूर एवं तुलसी जैसे महान कवियों द्वारा भाषा को प्रौढ़ता प्रदान करने के कारण संभव हो सका था। आधुनिक काल में ब्रजभाषा का साहित्यिक महत्व यद्यपि कम हो गया है परंतु इसके प्रयोक्ताओं की कमी नहीं हुई है। ब्रजमंडल ने आज भी सगर्व अपनी भाषा का प्रयोग करके भाषा–रूप को सूखने नहीं दिया है।

किसी भी देश की राष्ट्रीय एकता वहाँ की सांस्कृतिक एकता से जन्म लेती है। सांस्कृतिक एकता की जननी भाषा एवं साहित्यिक परंपरा है। कहना न होगा कि ब्रजभाषा एवं उसकी साहित्यिक महत्ता ने मध्यकालीन भावात्मक एकता को बनाये रखने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

अष्टछापी कवियों के साहित्य में ब्रज

—राजेश कुमार शुक्ल

हिंदी साहित्य में मध्ययुगीन काव्य साधना के केंद्र में ब्रज का विशिष्ट स्थान और कृष्ण काव्य परंपरा में अष्टछापी कवियों के आराध्य देव कृष्ण का ब्रज से बड़ा घनिष्ठ संबंध रहा है, जिसका केंद्र मथुरा है। वस्तुतः 'ब्रज' शब्द का संबंध संस्कृत 'ब्रज' से है जिसका केंद्र मथुरा है। जिसका ऋग्वेद में पशु समूह या चारागाह के अर्थ में प्रयोग मिलता है। डॉ. प्रभु दयाल मित्तल ने 'ब्रज' शब्द के तीन अर्थ बताये हैं—गोष्ठ (गायों का खिरक), मार्ग और वृन्द (झुण्ड)। 'ब्रज साहित्य का इतिहास' में डॉ. सतेन्द्र ने लिखा है कि "चूँकि 'ब्रज' कृष्ण की लीला भूमि रही है और भागवत में 'विरज' का अर्थ 'व्याप्ति' दिया हुआ है इसलिए जिसमें कृष्ण व्याप्त हैं, वहीं ब्रज है और "गावः अस्मिन् ब्रजन्ति इति ब्रजः" अर्थात् गायों के विचरण भूमि होने के कारण इसे ब्रज कहते हैं। मध्यकालीन हिंदी साहित्य में 'ब्रज', 'बिरज' और बृज आदि का सीधा संबंध मथुरा और उसके आस–पास के क्षेत्र विशेष का बोधक है। रूढ़ अर्थ में 84 कोस के मंडल को ब्रज कह सकते हैं। ब्रज मंडल का मुख्य व्यवसाय पशुपालन ही है, शायद इसीलिए इस मंडल को 'ब्रज' कहा गया और यहाँ की बोली जाने वाली भाषा 'ब्रजभाषा' कहलायी।"

'ब्रजभाषा' की बात करें तो पश्चिमी हिंदी की पाँच बोलियों–खड़ी बोली, हरियाणवी, बुन्देली, कन्नौजी और ब्रजभाषा में, यह मध्यकाल की सर्वाधिक लोक प्रचलित और विस्तृत क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा है जिसकी सीमा का निर्धारण ग्रियर्सन ने उत्तर प्रदेश के मथुरा, अलीगढ़, आगरा, बुलन्दशहर, एटा, मैनपुरी, बदायूँ तथा बरेली के जिले, पूर्वी पंजाब में गुड़गाँव जिले की पूर्वी पट्टी, राजस्थान में भरतपुर, धौलपुर, करौली तथा जयपुर का पूर्वी भाग मध्यप्रदेश में ग्वालियर का पश्चिमी भाग तक आ जाता है किन्तु व्यापक अर्थ में यह अखिल भारतीय भाषा के रूप में चर्चित रही है।

ब्रज मण्डल में गौड़ीय वैष्णव (प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु) और वल्लभ संप्रदाय (प्रवर्तक वल्लभाचार्य) अथवा पुष्टि मार्ग के केंद्र स्थापित हुये। वल्लभाचार्य ने ब्रजमंडल में साधना और व्यवहार के क्षेत्र में जिस भक्ति को स्थान दिया उसका मूलाधार पुष्टिमार्ग बनाया। 'पुष्टि' शब्द उन्होंने श्रीमद्भागवत से ग्रहण किया, जिसका सामान्य अर्थ है—सेवा अर्थात् परिचर्या, पूजा, आराधना आदि द्वारा भगवद् अनुग्रह कृपा।

श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के दशम् अध्याय में लिखा है कि–"पुष्टि किं मे? पोषणम्। पोषणं किम्? तद् अनुग्रहः, भगवत् कृपा। अर्थात् पुष्टि किसे कहते हैं? पुष्टि पोषण है। पोषण क्या है? भगवान के अनुग्रह या कृपा का नाम ही पोषण है और यही पुष्टि है, भक्ति भाव से सेवा करके भगवान कृष्ण की कृपा का पा जाना ही पुष्टि मार्ग के भक्तों का परम उद्देश्य रहा है। इस मार्ग में जीव (भक्त) किसी लौकिक या बाह्य साधना में नहीं अपितु भगवान के अनुग्रह, कृपा में विश्वास करता हुआ नित्य लीला (शाश्वत लीला) में प्रविष्ट होता है अर्थात् जब जीव (भक्त) अपने को पूर्णरूप से भगवान पर छोड़ दे, जैसे बन्दर और बिल्ली का बच्चा अपने को स्वयं अपनी माता पर छोड़ देता है उसी प्रकार भक्त जब स्वयं परब्रह्म कृष्ण के आश्रित हो जाय। ब्रज की गोपियों की प्रेमाभक्ति पुष्टि मार्गीय भक्ति का अनुपम उदाहरण है।"

अष्टछापी कवियों ने पुष्टिमार्गीय भक्ति का प्रचार–प्रसार कर भगवत् अनुग्रह को सर्वोपरि माना। अष्टछापी कवि से तात्पर्य उन आठ कृष्ण भक्त कवियों से है जिनको वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठल नाथ ने श्रीनाथ (गोवर्धन) के मन्दिर में कीर्तन गायन एवं सेवा हेतु नियुक्त किया था। अष्टछाप की स्थापना सन् 1565 ई. में विट्ठल नाथ ने की थी जिन्होंने अपने पिता वल्लभाचार्य के चौरासी शिष्यों में से चार–कुम्भन–दास, सूरदास, परमानन्ददास और कृष्णदास एवं अपने दो सौ बावन शिष्यों में से चार–गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास को मिला कर आठ कवियों (भक्तों) की मंडली तैयार की। इन सभी आठों कवियों, भक्तों की कृष्ण और ब्रज के प्रति अटूट श्रद्धा भक्ति एवं समर्पण की जो पराकाष्ठा है, उसी के कारण कृष्ण भक्ति साहित्य में इन्हें 'अष्टछाप' या 'अष्टसखा' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। ये सभी कृष्ण भक्त श्री नाथ जी की नित्य लीला में उनके साथ रहते थे। चूँकि ये सभी पुष्टिमार्गीय भक्त थे, इसमें क्रियात्मक सेवा पर अधिक बल होने के कारण नैमित्यिक कर्मो की प्रधानता है, ये नैमित्यिक कर्म (दैनिक सेवाएँ) भी आठ हैं–मंगला दर्शन, शृंगार, ग्वाल (गोचारण), राजभोग, उत्थापन, भोग, सन्ध्या आरती और शयन। मंगला में गुरू स्मरण के बाद बालरूप श्रीकृष्ण के विग्रह को जगाकर उनको कलेऊ कराया जाता है। मंगल भोग के बाद मंगला आरती होती है। शृंगार में ऋतु के अनुसार गरम पानी से स्नान, उबटन, सुगन्धित पदार्थ का अंगों पर लेपन, वस्त्र आदि से सुसज्जित कर तैयार किया जाता है उसके बाद शृंगार भोग होता है। राजभोग–जाड़े के दिनों में घर पर और गर्मी के दिनों में धूप के डर से कृष्ण वन गमन जल्दी करते हैं इसीलिए

राजभोग की छाक वन में भेजी जाती है। उत्थापन–राजभोग के बाद शयन और फिर जब छः घड़ी दिन रह जाता है तब कृष्ण को जगाया जाता है। भोग–जगने के बाद ऋतु के अनुसार फल–फूल का भोग कराया जाता है। संध्या आरती–गोधूलि बेला में कृष्ण गायों को चराकर जब घर आते हैं तब घर में आरती होती है। शयन–रात्रि का भोजन (ब्यारू) कराकर कृष्ण को सुलाया जाता है यह पुष्टि मार्गीय नैमित्यिक क्रियात्मक सेवा का क्रम है, जिसका सभी अष्ट–छाप के कवियों ने अनुसरण किया है। अपने आराध्य कृष्ण की प्रिय ब्रजभूमि की लोक रीति, नीति, मुरली, यमुना, गोकुल, गोवर्धन, मथुरा, वृन्दावन और वहाँ के अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्य, भाव–भाषा का अपने साहित्य में वर्णन कर ब्रज की उपस्थिति दर्शायी है। गोपी–ग्वाल–गाय और ब्रज के कण–कण से प्रेम का वर्णन कर अपने प्रभु कृष्ण के प्रति असीम श्रद्धा प्रकट की है। अष्टछापी कवि ही नहीं अपितु अष्टछाप से इतर अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने भी ब्रजभूमि के प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट कर वहीं निवास करने एवं पुनर्जन्म की इच्छा प्रकट की है। रसखान की यह अभिलाषा है कि–

"मानुष हों तो वही रसखान, बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हों तो बसु मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मझारन॥
पाहन हों तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरंदर धारन।
जौ खग हों तो बसेरो करौं मिलि, कालिंदी कूल कदंब की डारन॥"

मीराबाई ने कहा–"बसो मेरे नैनन में नंदलाल"।

अष्टछापी कवियों के साहित्य में श्री कृष्ण के नित्य और अवतार लीलाओं के वार्षिक, षट्ऋतु उत्सव, लोक के त्योहार, कृष्ण के अन्य अवतारों की जयंती आदि बड़े धूम–धाम से मनाये जाने का भी उल्लेख मिलता है, यथा वार्षिक उत्सव में–संवत्सर, गनगौर, अक्षय तृतीया, रथ यात्रा, जन्माष्टमी, राधाष्टमी, दान, साँझी, नवरात्रि, रास, अन्नकूट, गोपाष्टमी आदि। षट्ऋतुओं के उत्सव–वसन्त ऋतु का उत्सव ढोल, ग्रीष्म ऋतु का उत्सव फूल मण्डली, वर्षा ऋतु का उत्सव हिंडोरा, शरद ऋतु का उत्सव रास, हेमन्त ऋतु का उत्सव देव प्रबोधिनी का जागरण, शिशिर ऋतु का उत्सव होली आदि। इसी तरह रक्षाबंधन, दशहरा, दिवाली आदि त्योहार, नृसिंह जयंती, राम जयंती और वामन जयंती इत्यादि ब्रज के विशिष्ट पर्व हैं। कहने का आशय यह कि अष्टछापी कवियों का साहित्य ब्रज की आंचलिकता को समेटे हुए कृष्ण की प्रकट और अप्रकट लीलाओं का गुणगान करने वाला साहित्य है। "बैकुण्ठ और गोलोक आदि धाम अप्रकट लीला के धाम माने जाते हैं। ब्रज, मथुरा और द्वारका ये श्री कृष्ण के प्रकट लीला धाम

हैं। श्री कृष्ण और रुक्मिणी के उपासक संप्रदाय द्वारका को श्री कृष्ण का नित्य धाम स्वीकृत करते हैं। दूसरे मथुरा को द्वारका से अधिक महत्व देते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में मथुरा ही रस स्थल है। लीला के तारतम्य से द्वारका और मथुरा से ब्रज की लीलाओं को अधिक अंतरंग माना जाता है और इसीलिए ब्रज को श्री कृष्ण का अधिक अंतरंग धाम स्वीकृत किया जाता है।" पुष्टि मार्ग के जहाज सूरदास के प्रभु श्री कृष्ण भले ही कंचन की नगरी मथुरा के अधिपति बन गये हों, किन्तु ब्रज की स्मृति उन्हें बराबर कचोटती रहती है भ्रमरगीत सार में उद्धव से कृष्ण अपनी ब्रज से दूर रहने की वेदना प्रकट करते हुए कहते हैं कि–

"ऊधो! मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस सुता की सुन्दरि नगरी, अरु कुंजन की छाहीं॥
वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल, नाचत गहि गहि बाहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि मुक्ताहल जाहीं।
जबहि सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तनु नाहीं॥"

ब्रज के धाम की दृष्टि से दो विशिष्ट स्थल हैं–वृन्दावन और गोकुल। वल्लभ सम्प्रदाय गोकुल को विशेष महत्व देता है किन्तु सूरदास आदि कवियों ने वृन्दावन का अधिक तन्मयता के साथ गुणगान कर ख्याति अर्जित की है। श्री रूप गोस्वामी जी ने श्री कृष्ण के चार धाम माने हैं–ब्रज, मथुरा, द्वारका और गोलोक। ब्रज ही गोकुल है और उनकी दृष्टि में गोलोक गोकुल का ही वैभव है। अतएव आत्म वैभव के कारण गोकुल ही सर्वश्रेष्ठ है। मथुरा मण्डल में बारह वन हैं–मधुवन, तालवन, कुन्दवन, काम्यकवन, बहुवन, भद्रवन, खदिरवन, महावन, लौहवन, विल्ववन, भाण्डीर वन और वृन्दावन। 'वृन्दावन' श्री कृष्ण की रासलीला का केंद्र है, जो बैकुंठ से भी श्रेष्ठ है। इसीलिए श्री कृष्ण गोकुल से क्रीड़ा करने, गाय चराने, वंशी बजाते हुए यहीं विहार करते हैं। मुरली नाद सुनकर गोपियों को लोकलाज त्यागकर ब्रज से दौड़कर जिस वन में आने की बात श्रीमद्भागवत में वर्णित है, वह यही वृन्दावन है। सुंदर–सुंदर सरोवर, पशु–पक्षियों के कलरव, मधुप के सुमधुर गुंजारों से परिपूर्ण अनुपम–अतुलनीय है। वृन्दावन की शरदकालीन चाँदनी का सौंदर्य देखते ही बनता है, यथा–

"सरद चाँदनी रजनी सोहे वृन्दावन श्री कुन्ज।
प्रफुल्लित सुमन विविध रंग जहं तहं कूजत कोकिल पुन्ज।"

ब्रज के चर्चित त्योहार और उत्सव की बात करें तो प्रमुख हैं–

गनगौर–ब्रज की कन्याओं का त्योहार है जो इच्छित वर की प्राप्ति हेतु किया जाता है, परमानन्ददास की पंक्ति है–

'कौन गौर ते पूजी राधा'।

रथयात्रा–इसका प्रचलन सम्प्रदाय में गोस्वामी विट्ठलनाथ ने किया। आषाढ़ शुक्ल पक्ष द्वितीया को, जिसका संबंध श्रीकृष्ण की द्वारका लीला से है–सूरदास का पद हैं–

देखो भाई रथ बैठे हरि आजु।

आगे ब्रजजन सखा श्याम घन, सबै मनोहर साजु॥

कृष्ण जन्माष्टमी–भाद्रपद कृष्ण पक्ष की अष्टमी को कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का उत्सव मनाया जाता है।

राधाष्टमी–भाद्रपद शुक्ल पक्ष की अष्टमी को राधा की विविध लीलाओं का उत्सव बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता है।

साँझी–विशिष्ट लोक कला है रंग, जल और गोबर के बिम्बात्मक चित्र बड़े जीवंत होते हैं। सूरदास ने लिखा है–

"सखियन संग राधिका बीनत, सुमनन बन मांह।

सांझी पूजन को आतुर ही ठाढ़े कदंब की छांह॥"

गोपाष्टमी–का त्योहार भी कृष्ण की अवतार लीला से संबंधित है, यथा–

"आज हौं गाय चरावन जैहों।

वृन्दावन के भाँति–भाँति फल अपने कर मैं खैहों।"

इसी तरह षट्ऋतुओं में डोल, फूलमण्डली, हिंडोरा, रास आदि प्रमुख है। हिंडोरा वर्षा ऋतु का उत्सव है, यथा–

"झूलै माई गिरिधर सुरंग हिंडोरे।

रतन जटित पटुली पर बैठे नागर नंद किसोरे।"

रक्षा बंधन, दशहरा, दीपावली, होली आदि ब्रज में विशेष त्योहार हैं, यथा–

"आज दिव्य दीप मालिका।

मानो कोटि रवि, कोटि चंद छवि, विमल भई निसि कालिका।"

राम, कृष्ण, नृसिंह और वामन आदि की जयंतियाँ भी ब्रज के महत्वपूर्ण उत्सव हैं, राम जयंती के पद, यथा–

"आज दसरथ कै आनन्द भीर।

आये भुवभार उतारन कारन, प्रगटे स्याम सरीर।"

अष्ट छाप के सभी कवियों के साहित्य में 'ब्रज' की उपस्थिति स्वाभाविक है क्योंकि इन सभी का ब्रज से विशेष लगाव है। ये आठ कवि निम्नलिखित हैं–

1. सूरदास–पुष्टिमार्ग के जहाज सूरदास का जन्म दिल्ली के पास 'सीही' नामक स्थान पर सन् 1478 ई. में हुआ था। इनका 'सूर सागर' कृष्ण लीला का सागर ही है। भ्रमरगीत प्रसंग में उद्धव गोपी संवाद के द्वारा ब्रज की गोपिकाओं की कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति की पराकाष्ठा है। ब्रज सूरदास को सबसे प्रिय है कृष्ण की सभी लीलाओं और सूर की साधना का मुख्य केंद्र होने के कारण भाव और भाषा सभी में ब्रज का सौंदर्य देखते ही बनता है। वृन्दावन का सौंदर्य देखिए–

"गोपी कहत धन्य हम नारी।

धनि–धनि ग्वाल, धन्य वृन्दावन, धन्य भूमि यह अति सुखकारी।

धन्य दान धन्य कान्ह मंगैया, धन्य सूर तृण द्रुम बन डारी॥"

ब्रज की बात हो और मक्खन की बात न हो, यह कैसे हो सकता है। कृष्ण और बलराम का माता यशोदा से माखन–रोटी माँगना, बाल्यावस्था की नटखट चपलता और मासूमियत देखें–

"दोऊ भैया मैया पै माँगत दे री मैया माखन रोटी।

बलजु गह्यो नासिका मोती, कान्ह कुँवर गहि दृढ़ करि चोटी॥"

ब्रज की वात्सल्यमयता देखिए जब माता यशोदा कृष्ण के मथुरा गमन के समय संपूर्ण ब्रज से कृष्ण को रोकने का आह्वाहन करती हुई कहती हैं–

"जसोदा बार–बार यो भाखै।

है ब्रज में कोऊ हितू हमारो, चलत गोपालहिं राखै॥"

दधि लीला, दान लीला, चीरहरण लीला, रास लीला, मान लीला, गाय दुहने, गोचारण आदि ब्रज की वे लीलाएँ हैं जो कृष्ण के बिना अधूरी हैं। कृष्ण और ब्रज एक दूसरे के पूरक हैं। प्रेम में कृष्ण इतना तल्लीन हो जाते हैं कि गाय के स्थान पर बैल को ही दुहने लगते हैं यथा–

"दुहत स्याम गैया बिसराई।

नोई लै पग बाँधि वृषभ के दोहनि माँगत कुँवर कन्हाई॥"

शृंगार वर्णन में संयोग एवं वियोग दोनों का सूर ने वर्णन किया है किंतु संयोग वर्णन की अपेक्षा वियोग वर्णन में गोपिकाओं को हरी–भरी प्रकृति शोभा नहीं देती, अपितु वेदना को उद्दीप्ति करती है, यथा–

"बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजै।

तब वै लता लगति अति शीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजै।"

गोपिकाएँ कृष्ण के वियोग में वृन्दावन के कुंजों, यमुना, वृक्ष लताओं को कोसती हुई प्रश्न करती हैं कि यह वियोग मुझे दग्ध कर रहा है और तुम्हें तो कोई फर्क नहीं पड़ता है अर्थात् तुम कृष्ण का वियोग कैसे सह रहे हो–

"मधुवन तुम कत रहत हरे।

विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे॥"

कृष्ण के वियोग में यमुना नदी ही काली हो गयी है, यथा–

"देखियत कालिंदी अतिकारी।

कहियो पथिक जाय उन हरि सौ, भई बिरह जुर जारी॥"

जन्म से मृत्यु तक के विविध संस्कारों का वर्णन भी ब्रज की रीति रही है, छठ, कर्ण छेदन, नामकरण, वर्षगांठ आदि, यथा–अन्नप्रासन–

"आजु कान्ह करि हैं अनप्रासन।

मनि कंचन के थार बनाए, भाँति–भाँति के बासन॥"

भाषा की दृष्टि से ब्रज प्रदेश में लोक प्रचलित उन देशज शब्दों का प्रयोग जिनकी व्युत्पत्ति नहीं हो सकती; यथा–ढाढ़ी, झुगिया, बोहनी, मोट, टकटोरत, झमक, ठुनक, झकोर, झाम आदि।

लोकोक्तियों में–यथा–काकी भूख गई बयार भख, अपनौ दूध छाँहि को पीवै खार कूप को पानी, ताकौ कहा परेखौ कीजै जानै छाछ न दूधौं आदि। मुहावरों में–यथा–जिय में सूल रही, गाढ़े दिन के मीत, कीजै लाज नाम अपने की, सीस धुनै कर मारै, माँगत गोद पसारी आदि।

2. परमानन्द दास–इनका जन्म सन् 1493 ई. में कन्नौज के एक कान्य–कुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था, 'परमानन्द सागर' इनका चर्चित ग्रंथ है। कृष्ण की बाल्यावस्था और किशोरावस्था आदि की लीलाओं का वर्णन किया है। ये ब्रज में ही रहना चाहते है, इन्हें जरा भी बैकुण्ठ की अभिलाषा नहीं है, यथा–

"कहा करौ बैकुण्ठहिं जाय।

जहँ नहिं नन्द, जहाँ न यसोदा, नहिं जहँ गोपी ग्वाल न गाय॥

जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल, और नहीं कदमन की छाँय।

परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रज रज तजि मेरी जाय बलाय॥"

ये गोपी को प्रेम की ध्वजा मानते हैं; यथा–

"गोपी प्रेम की धुजा।

जिन गोपाल कियौ अपने बस, उर धरि श्याम भुजा॥"

कृष्ण जन्माष्टमी पर–"जन्म फल मानत जसोदा माय।"

राधा जन्माष्टमी पर–"राधा जू कौ जनम सुन्यौ मेरी माई।"

राम नवमी पर–"नौमी के दिन नौबत बाजै।"

अन्नप्रासन–"अन्नप्रासन दिन नंदलाल कौ करत यसोदा माय।"

3. कुम्भनदास–अष्टछाप में उम्र में सबसे बड़े थे। इनका जन्म ब्रज के निकट पारसोली ग्राम में सन् 1468 ई. में हुआ था। ये सन्त स्वभाव के बड़े त्यागी भक्त थे। श्रीनाथ जी के शृंगार संबंधी पद गाते थे। राधा की प्रधानता स्वीकारते हैं। गोवर्धनधारी कृष्णकेलि क्रीड़ारत है, यथा–

"रसिकनी रस में रहति गढ़ी।

कनक बेलि वृषभानुनन्दिनी, स्याम तमाल चढ़ी॥

बिहरत श्री गिरिधरन लाल सँग कौन पाठ पढ़ी।

कुम्भनदास प्रभु श्री गोवर्धन धर रति रस केलि बढ़ी॥"

जन्माष्टमी पर–"नंद महरि के पूत भयौ।"

फूल मण्डली–"बैठे लाल फूलन के चौबारे।"

गौ सेवा–"गाय खिलावत स्याम सुजान।"

4. कृष्णदास–इनका जन्म गुजरात के चिलोत्तरा नामक गाँव में सन् 1498 ई. में हुआ था। जाति से शूद्र होते हुए भी श्री नाथ जी की सेवा में अधिकारी के पद पर रहे। ये कृष्ण की कुंज लीला के गान करते थे। यथा–

झूलत सुरंग हिंडोरे मुकुट धरि बैठे हैं नंदलाल।

लाल काछिनी, कटि पर बाँधे उर सोभित है माल॥

बाम भाग वृषभानु नन्दिनी, चंचल नैन बिसाल।

कृष्णदास दंपति छवि निरखत, अँखिया भईं निहाल॥

जन्माष्टमी पर—"गोकुल बरषत आनंद मेहा।"

फूल मण्डली—"देखन सखी फूलन अठखम्भा।"

रथयात्रा—"तुम देखो सखी बैठे ब्रजनाथ।"

मुरली—"बाँसुरी बाजत मदन मोहन।"

5. गोविन्द स्वामी—इनका जन्म भरतपुर के अंतरी नामक ग्राम में सन् 1505 ई. में हुआ था, जाति के ब्राह्मण थे, इनके पदों को सुनने के लिए तानसेन भी आते थे। ब्रज इन्हें बैकुण्ठ से भी अधिक प्रिय है यही ब्रज की महिमा है यथा–

"कहा करें बैकुण्ठहि जाय।
जहँ नहिं कुंज लता, अलि, कोकिल, मन्द सुगन्ध न वायु बहाय।
नहिं वहाँ सुनियत स्रवनन वंशी धुनि, कृष्ण न मुरली अधर लगाय।
सारस हंस मोर नहिं बोलत, तहँ को बसिबौ कौन सुहाय।
गोविन्द प्रभु गोपी चरनन की ब्रजरज तजि वहँ जाय बलाय॥"

जन्माष्टमी पर—"नंद महर के आज बधाई।"

हिंडोरा—"दंपति झूलत सुरंग हिंडोरे।"

रथयात्रा—"तुम देखो माई हरि जू के रथ की सोभा।"

6. छीत स्वामी—इनका जन्म सन् 1510 से 1515 के लगभग मथुरा में हुआ। ये प्रसिद्ध पण्डा और बीरबल के पुरोहित थे। अक्खड़ और उदण्ड स्वभाव के थे किन्तु विट्ठलनाथ के शिष्य बनने के बाद बहुत शान्त एवं नम्र हो गये थे। इनकी ब्रज भूमि के प्रति प्रेम की व्यंजना निम्नलिखित पंक्तियों में देखी जा सकती है—

"अहो विधना! तो पै अंचरा पसार मांगौं,
जनम जनम दीजो मोहि याही ब्रज बसिनौ।"

ब्रज के अधिपति श्री कृष्ण की लीला एवं शृंगार के पदों में विशेष रूचि थी, यथा—

"भोर भये नवकुंज सदन ते, आवत लाल गोवर्धनधारी।
लटपट पाग मरगजी माला, सिथिल अंग डगमग गति न्यारी॥"

फूल मण्डली—"फूलन के भवन गिरिधरन।"

गौ सेवा—"खिरक खिलावत गायन ठाढ़े।"

7. चतुर्भुजदास—इनका जन्म गोवर्धन के पास जमुनावती ग्राम में सन् 1530 ई. के लगभग हुआ। ये कुम्भनदास के छोटे पुत्र थे। ब्रजलीला का गुणगान बड़ी तन्मयता से करते थे, यथा—

जन्माष्टमी पर—"नैन भरि देखो नंद कुमार।"

फूल मण्डली—फूलन की मण्डली मनोहर बैठे।

मुरली—"नंदलाल बजाई बाँसुरी श्री यमुना जू के तीर री।"

गौ सेवा—"गाय खिलायौ चाहत।"

बाल लीला—"माई लैन देहु जो मेरे लालहिं भावै।"

रास—"प्यारी भुज ग्रीवा मेलि।"

8. नंददास—इनका जन्म सूकर क्षेत्र (सोरों) के निकट रामपुर नामक ग्राम में सन् 1533 ई. में हुआ था। रास पंचाध्यायी इनका चर्चित ग्रंथ है जिसमें कृष्ण की रास लीलाओं का वर्णन है। नंददास जी ने वृन्दावन को सकल सिद्धिदायक बताया है, यथा—

"अब सुन्दर श्री वृन्दावन को गाइ सुनाऊँ।
सकल सिद्धदायक नाइक पै सब विधि पाऊँ॥"

वृन्दावन के पर्वत पक्षी, मृग, लता, कुंजे आदि सभी काल के प्रभाव से मुक्त हैं, सभी जन्तु परस्पर अविरोधी हैं, काम क्रोध मद लोभ से परे सभी प्रभु की लीला का अनुसरण करते हैं, यथा—

"जहँ नग खग मृग लता कुंज वीरुध तन जेते।
परत न काल प्रभाव सदा सोभित हैं तेते॥
सकल जन्तु अविरुद्ध जहाँ हरि मृग संग चरहीं।
काम क्रोध मद लोभ रहित लीला अनुसरहीं॥"

जन्माष्टमी पर—"पुत्र भयो है आज श्री नंदराज के।"

गनगौर—"छबीले राधे! तू पूजि लै री गनगौर।"

फूल मण्डली—"फूलन कौ मुकुट बन्यौ फूलन कौ पिछौरा।"

रथयात्रा—"देखो भाई नंदनंदन रथहिं बिराजे।"

हिंडोरा—"हिंडोरे माई झूलत गिरिधर लाल।"

सारांश यह है कि अष्टछापी कवियों के साहित्य में ब्रज की लोक–रीति, श्री कृष्ण की बाल्यावस्था से किशोरावस्था की विभिन्न लीलाएँ, श्रीनाथ जी की सेवा, यमुना, वंशीवट, ब्रज की गोपिकाओं की प्रेमाभक्ति, गोपी–ग्वाल, कालियदमन, लोक कलाएँ फाग, रसिया, होली गीत, जन्माष्टमी, ब्रज का प्राकृतिक सौंदर्य, वहाँ की आंचलिकता, ब्रजभाषा का माधुर्य, लोकोक्तियों–मुहावरों की सरसता, कृष्ण की भक्ति में राधे–राधे की

धुन, दूध–दही, गौमाता की सेवा कर भारतीय संस्कृति की रक्षा, भक्ति का चरमोत्कर्ष, कृष्णं वन्दे जगत् गुरुः यही ब्रज और ब्रजवासियों की अमूल्य निधि है। समस्त अष्टछापी कवि पुष्टिमार्गीय भक्ति के साधक हैं जो विभिन्न जातियों एवं क्षेत्रों में उत्पन्न होने के बाद भी, श्री कृष्ण की प्रीति में बँधकर कृष्ण और उनकी प्राण प्रिय ब्रजभूमि के प्रति असीम कृतज्ञता का भाव प्रकट कर वहाँ के जड़–चेतन के कण–कण से प्रेम कर एक क्षण के लिए भी ब्रज रज से विमुख होना नहीं चाहते, मुक्ति नहीं चाहते, यहाँ तक कि बैकुण्ठ के भी अभिलाषी नहीं हैं।

संदर्भ–

1. सूर निर्णय–द्वारकादास परीख, प्रभुदयाल मीतल
   प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, अग्रवाल भवन, मथुरा
   द्वितीय संस्करण–मार्गशीर्ष शु. 11 सं. 2008 वि.
2. वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त–आचार्य बलदेव उपाध्याय
   चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी
   द्वितीय संस्करण–वि. सं. 2035
3. कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव–डॉ. शरण बिहारी गोस्वामी
   चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
   द्वितीय संस्करण–प्रथम संवत् 2023 वि.
4. हिन्दी साहित्य कोश (भाग–2)–सम्पादक–धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान)
   ज्ञान मण्डल लिमिटेड
   द्वितीय संस्करण–पुनर्मुद्रण सितम्बर 2010
5. सूर साहित्य नवमूल्यांकन–डॉ. चन्द्रभान रावत
   जवाहर पुस्तकालय, मथुरा
   द्वितीय संस्करण–1967 ई.
6. भ्रमरगीत सार–सूरदास
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
   नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
   द्वितीय संस्करण–35वाँ संवत् 2056 वि.

8. हिंदी साहित्य का इतिहास—संपादक—डॉ. नगेन्द्र
मयूर पेपर बैक्स ए–95 सेक्टर–5, नोएडा–201301
संस्करण—अड़तालीसवाँ पुनर्मुद्रण संस्करण–2015
9. कल्याण–भक्तमाल अंक सन् 2013 ई. 87वाँ वर्ष, गीताप्रेस, गोरखपुर
10. भाषा विज्ञान का अनुशीलन—डॉ. कैलाश नाथ पाण्डेय
जन प्रकाशन औद्योगिक उत्पादन, सहकारी समिति लि. रौजा गाजीपुर।
11. मध्ययुगीन काव्य साधना—डॉ. रामचन्द्र तिवारी
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण–1962

ब्रज काव्य में महाकवि सूरदास

–प्रतिभा चौहान

हिन्दी की कृष्ण काव्य परंपरा में सूरदास जी का उदात्त स्थान है। महाकवि सूरदास जी भारतीय संस्कृति एवं भगवान श्री कृष्ण के परम उपासक थे। उन्होंने ब्रज की संस्कृति का अपने काव्य में विस्तृत रूप से उल्लेख किया है। ब्रज प्रदेश की अपनी विशिष्ट संस्कृति है। वहाँ प्रकृति ने अपने सुंदर एवं मनोहर रूप की छटा बिखेरी है। हरे–भरे मैदान, यमुना का मनोहर तट, स्नेह एवं शीतलता प्रदान करने वाली कुरील कुंजों की सघन छाया, सुंदर–सुंदर कदंब के छायादार वृक्ष आदि। ब्रज के पशु–पक्षियों का भी बड़ा मनोहर चित्रण मिलता है। सुंदर एवं दुधारू गायें, सुंदर–सुंदर नृत्य करते हुए मोर इसी के साथ संस्कार, पूजा, व्रत, उत्सव, मनोरंजन, भोजन, वेशभूषा आदि का भी खुलकर वर्णन किया है।

महाकवि सूरदास ने श्री कृष्ण के जन्मोत्सव, नामकरण, वर्षगांठ आदि के अवसरों पर जो चित्रण किया है उस पर ब्रज संस्कृति की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है–

'अरि मेरे लालन की आजु बरस गांठि सबै।
सखिन कौ बुलाई मंगल–गान करावो।
चन्दन आंगन लिपाइ मुतियन चाकै पुराइ।
उमंग अंगनि आनन्द सौ तूर बजावो।'[1]

महाकवि सूरदास जी ने बसंत में श्री हरि लीला के कितने ही सुललित पदों की रचना की है जिनको पढ़ते ही मन मुग्ध एवं तन्मय हो जाता है। वे रचनाएँ हिंदी साहित्य की अनमोल निधि तो हैं ही भक्तों की प्राण–प्रिय सम्पत्ति भी हैं। इन संत कवियों में भक्त प्रवर महाकवि सूरदास का अत्यंत आदरणीय स्थान है।

हिन्दी कविता में संत सूर 'पूरी' की उपाधि से विभूषित हैं। इनके अनूठे पदों के कितने ही संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। सूरदास जी का वसन्त वर्णन इस प्रकार है–

कोकिल बोली, बन बन फूले
मधुप गुंजारन लागे।
सुनि भयौ भोर, रोर वंदिन कौ
मदन–महीपति जागे।

ते दून अंकुर द्रुम पल्लव,

जे पहिले दल–दागे।

मानहुं रति–पति रीझि जाचकनि

बरन–वरन दए बागे॥[2]

गोकुल की ग्वालिनें होली के दिन किस प्रकार फाग खेलने के लिए चलती हैं और रंगोत्सव पर्व पर कितना आनंद एवं कितनी मस्ती छायी है, उसी मस्ती का आनंद लेते हुए एक दृश्य सा बन जाता है। इसी प्रकार महाकवि सूरदास जी ने अपने पदों में होली का वर्णन इस प्रकार किया है–

गोकुल सकल गुवालिनी, घर–घर खेलति फाग।

मनोरा झूम करो॥

तिनमैं राध लाडिली, जिनकौ अधिक सुहाग

मनोरा झूम करो॥

झुंडनि मिलि गावत चलीं, झूमत नंद दुवार

मनोरा झूम करो

आजु परब हंसि खेलिये, मिलि संग नंद कुमार

मनोरा झूम करो॥[3]

यशोदा नन्दन मदन मोहन होली खेलने की कैसी तैयारी करके निकले हैं। वे होली को बड़े चाव के साथ खेलते हैं। महाकवि सूरदास जी ने वर्णन इस प्रकार किया है–

निकसि कुंवर खेलन चलो, रंग होरी।

मोहन नंद किसोर, लाल रंग होरी।

कंचन मांत भराइ के, रंग होरी।

सौंधे भरो कमोर, बाल रंग होरी॥

सझांझ–ताल सुर मंडले रंग होरी॥

बाजत मधुर मृदंग लाल रंग होरी॥

तिन मैं परम सुहावनी रंग होरी।

महुवरि कांसुरि, चंग, लाल रंग होरी॥[4]

कालिन्दी कूल पर यशोदानन्दन श्री कृष्ण कुंजों में होली खेल रहे हैं। एक ओर तो श्रीकृष्ण अपने सखाओं गोप बालकों के साथ हैं और दूसरी ओर वृषभानकुमारी श्री

राधा अपनी सखियों के साथ आई हुई हैं। होली की प्रतिद्वन्द्विता में वे परस्पर स्नेहसिक्त गाली देते हैं और हाथों में स्वर्ण की पिचकारी लेकर एक–दूसरे पर केसर मिश्रित रंग डालते हैं, और रंग–बिरंगा गुलाल उड़ाते हैं–

होली खेलत जमुना के तट, कुंजनि तर बनवारी।
इत सखियन का मंडन जोरें, श्री वृशभानु–दुलारी॥
होड़ा–होड़ी होत परस्पर देत हैं आनंद गारी।
भरे गुलाल कुमकुमा केसर, कर कंचन–पिचकारी॥[5]

वहाँ वीणा, मुहवर किन्नरी, मुरधंग तथा बंसुरी बज रही है। झांझ, मृदंग और ढप्प के स्वरों की तरंगे उठ रही हैं। गोप बालक एवं किशोरी जी की सखियाँ सभी एक दूसरे पर केसर और रंग छोड़ते हैं तथा स्वयं हंसते और दूसरों को हंसाते हैं। इसी समय चतुर श्रीकृष्ण ने अपने सखाओं को बुलाकर कहा–"भाइयो, होली के रंग एवं विनोद में भी सजग रहना कोई गोपियों के हाथ न आ जाए, अन्यथा यदि गोपियाँ किसी को पकड़ लेंगी तो मनमानी दुर्गति कर डालेंगी।"–

रे भैया! तुम चौकस रहियो, जिनि कोउ हाँहु गहायौ।
जो काहू कौ पकरि पाइहैं मन को भायौ॥
तातें सावधान है रहियौ, मैं तुमकौं समुझायौ॥[6]

सखी बलराम के वेश में श्रीकृष्ण की ओर गयी। श्रीकृष्ण उससे मिलने चले। कोई भी गोप बालक सखी को पहचान नहीं सका। उसने श्यामसुंदर को अपनी बातों में जरा–सा उलझाकर पीछे से पकड़ लिया। वे कहने लगीं कि हम विधाता से यही याचना कर रही थीं कि श्याम सुंदर से अपना दांव कब पायेंगी। जब तुमने हम लोगों के वस्त्रों की चोरी की, तब हम आकुल होकर रह गयी थीं। अब हम तुम्हारे वस्त्र छीन लेंगी और तुम छटपटाओगे–

ताकौं मिलन चले उठि मोहन, काहुं सखा न चीन्हौ।
नैंसुक बात बुताइ सांवरै पाछे तै गहि लीन्हौ॥
आई सिमिटि सकल ब्रज सुंदरि, मोहन पकरे जबहिं।
हम माँगत ही यह विधिना पै, दांव पाइहैं कबहीं।
तब तुम चीर हरे जु हमारे, हा–हा खाई सुबहीं।
अब हम बसन छीनी करिं लैहें, हा–हा बरिहो अबहीं॥

एक सखी ने श्रीकृष्ण की आँख में अंजन लगाकर उनके मुख पर रंग पोत दिया। उसे किसी प्रकार का भय नहीं था। होली में भय क्यों–

एक जु आंखि, आंजि, मुख मांडयो उपर गुलचा दीन्यो।
मानत कौन फाग में प्रभुता, मन भायौ सौ कीन्यो॥[8]

सखियों को इतने से ही संतोष नहीं हुआ। प्रेमोन्मत्त सखियों में से एक बोली, अब तुमको तुम्हारे दाउ भैया आकर छुड़ा लें। एक बोली अपना एक सखा घर पर भेज कर यशोदा मैया को बुला लो। वो आकर तुम्हें छुड़ा लें। महाकवि सूरदास के शब्दों में–

एक कहै बोली बल भैया, तुमको आइ छुड़ावै।
सखा एक पठवौ कोई घर कौ, जसुमति कौ लै आवै॥
जानत हौ कल बल कै छूटे, सौ नहिं छूटन पावै॥
राधा जू सों कौ बीनती को बलि तुमको छुड़ावै॥[9]

ब्रज संस्कृति का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग गोचारण है। यदि गो चारण को ब्रज–संस्कृति का पर्याय कहा जाए तो कोई अतिश्योक्ति न होगी। गोचारण ब्रज संस्कृति का एक अविच्छिन्न अंग इसलिए है क्योंकि प्रकृति ने वहाँ चारों ओर हरियाली, सुंदर चारागह वन, उपवन आदि प्रदान किए हैं। महाकवि सूरदास ने अपने इष्टदेव के चरित्र–चित्रण के माध्यम से ब्रज–संस्कृति की इस अभिन्न परंपरा का अत्यंत सुंदर सजीव व सार्थक वर्णन किया है।

भगवान श्री कृष्ण का पालन पोषण उस परिवार में हुआ जिसमें गो–पालन को ही आजीविका का साधन बनाया गया है। शिशु श्रीकृष्ण जब थोड़ा बड़े होते हैं और अपने घर में इधर–उधर घूमते–फिरते हैं, तब वे अपने पिता नंदबाबा की गाय का नाम लेते हैं। यहाँ पर सूरदास ने ब्रजवासियों की गोचारण परंपरा का सुंदर वर्णन किया है–

हरि अपने आंगन गावत।
बांह उठाए कजरी–धौरी, गौयनि टेरि बुलावत॥[10]

ब्रज–मंडल में गो–पालन की अटूट परम्परा रही है। वहाँ के समाज व संस्कृति में गो–बालकों की दिनचर्या का विशेष महत्त्व है। गो चारण के लिए वन में जाने वाले ग्वालों की दिनचर्या प्रातःकाल से आरंभ होती है। वे प्रातः उठकर अपनी–अपनी गायों, बछड़ों आदि को हाँककर वन में ले जाते हैं। वहाँ वे दिनभर गायों को चराते हैं तथा गाय के दूर निकल जाने पर उन्हें हाँक कर पुनः एकत्र करते हैं। महाकवि सूरदास जी ने इस संदर्भ में ब्रज मण्डल की अटूट परम्परा का वर्णन किया है–

बिहारी लाल, आवहु, आई छाक
भई अबार, गाइ बहुरावहु उलटावहु दै हांक।
अर्जुन भोज अरू सुबल, सुदामा, मधुमंगल एक ताक।
मिलि बैठे सब जें न लागे, बहुत बने कई पाक॥[11]

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि ब्रज संस्कृति व जन जीवन में सूरदास का हृदय पूर्ण रूप से रमा है। उन्होंने वहाँ की संस्कृति तथा लोक तत्व का उद्‌घाटन बड़ी तन्मयता से किया है। ब्रज संस्कृति की परम्पराओं, उत्सव, पर्वों, गोचारण आदि सांस्कृतिक अंगों का अपने काव्य में खुलकर वर्णन किया है।

संदर्भ–

1. महाकवि सूरदास कृत सूरसागर, पृ. 162
2. कल्याण मासिक पत्रिका, गोरखपुर, पृ. 22
3. वही, पृ. 132
4. सूरसागर, पृ. 133
5. वही, पृ. 165
6. वही, पृ. 138
7. वही, पृ. 139
8. वही, पृ. 142
9. सूरदास कृत सूरसागर, पृ. 78
10. वही, पृ. 131

रीतिकालीन काव्य में ब्रज संस्कृति एवं भाषा का वैशिष्ट्य

—अरुण कुमार चतुर्वेदी

संस्कृति एक व्यापक शब्द है। विभिन्न विद्वानों ने अपने अलग–अलग विचारों द्वारा इसे परिभाषित किया किन्तु अब तक इसकी कोई सर्वसम्मत परिभाषा नहीं की जा सकी। प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही संस्कृति हैं। संस्कृति शब्द 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'सुर' का आगम होने पर 'कितन' प्रत्यय लगाकर बनता है इसका शाब्दिक अर्थ संशोधन करना, उत्तम बनाना, सुन्दर अथवा पूर्ण बनाना परिष्कार अथवा सुधारना है। भारत विभिन्न संस्कृतियों को अपने में समेटे हुए है। प्राचीन काल से ही भारत में अनेक धर्म, संस्कार एवं कलाओं का विकास होता रहा है। किसी भी मानव समुदाय, जाति विशेष अथवा देश विशेष के चाल–चलन, रहन–सहन, आचार–व्यवहार आदि से संबंधित स्वाभाविक कल्याणमय आचरण को हम उस समुदाय विशेष, जाति विशेष अथवा देश विशेष की संस्कृति कहते हैं। भारतीय संस्कृति उस महासागर के समान है जिसमें अनेक नदियाँ आकर विलीन होती रहती हैं।

हमारी संस्कृति का मुख्य लक्ष्य आत्मा का उत्थान करना है और आत्मा के उत्थान हेतु जो मार्ग बतलाया जाता है वही संस्कृति का आधार होता है। वैदिक सनातन हिन्दू संस्कृति ही संपूर्ण संस्कृतियों की जननी मानी जाती है यदि ईश्वर के स्वरूप को समझना है तो सांस्कृतिक जीवन को आध्यात्मिक संस्कृति का रूप धारण करना होगा। हमारी संस्कृति में गंगा को भी देवी का स्थान और महत्व प्राप्त है जब गंगा का उपासक गंगा के तट पर पहुँच कर अपने मुख मण्डल का प्रक्षालन करता है तब उसकी गीली भौंह देखकर भगवान शंकर अपने तृतीय दिव्य नेत्र से देखकर उसे दीर्घायु का वरदान देते हैं।

संस्कृति और ज्ञान वृद्धि के साथ–साथ कल्पना का भी विकास होता है। मानव की परिष्कृत रुचि कला का रूप धारण करती है। इसकी अभिव्यक्ति मानव जीवन को पशु जीवन से भिन्न कर देती है। सौन्दर्य–बोध मानव का निर्माण करता है। कुशल कलाकार असुन्दर वस्तु में भी सुन्दरता के दर्शन कर उसे कलात्मक रूप प्रदान करता

है। कला और सौन्दर्य का यह सम्मिश्रण ही जीवन में नवीन आनंद का विधान करता है।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मानव के कल्याण एवं प्रगति में सहायता हेतु सभी ज्ञानात्मक, विचारात्मक और क्रियात्मक अनुभव जो किसी भी समाज में अथवा राष्ट्र में समाहित होने के कारण संस्कारों का रूप धारण कर लेते हैं, उन्हें संस्कृति के नाम से जानना चाहिये।

साहित्य का आधार संस्कृति और जनजीवन है। इन्हीं दोनों की नींव पर साहित्य, की मजबूत दीवारें स्थापित होती हैं। उसकी अटारियाँ, दीवारें और गुम्बद निर्मित होते हैं, लेकिन नींव नीचे ही दबी रहती है जिसका महत्व उत्कृष्ट शिल्पियों को ही मालूम होता है। जीवन परमात्मा का सर्वोत्तम सृजन है। मुंशी प्रेमचन्द जी के शब्दों में, साहित्य मनुष्य की सृष्टि हैं, इसलिए सुबोध हैं, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। मानव–जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवाबदेह है। इसके लिए कानून है जिससे वह इधर–उधर नहीं हो सकता है। जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है। मनुष्य जीवन पर्यन्त आनन्द की ही खोज में पड़ा रहता है, किसी को वह रत्न द्रव्य में मिलता है। किसी को भरे पूरे परिवार में, किसी को लम्बे–चौड़े भवन में, किसी को ऐश्वर्य में, लेकिन साहित्य का आनन्द, इस आनन्द से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुन्दर और सत्य है।"

हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने संवत् 1700 से 1900 तक के काल खंड को रीतिकाल की संज्ञा दी। इस युग की राजनैतिक व्यवस्था का आधार व्यक्तिवादी निरंकुश बादशाह, राजा और सामंत थे। इस प्रकार की व्यवस्था में शासक राष्ट्र के भाग्य का निर्माता युग चेतना का नियंत्रक तथा एक विशिष्ट सांस्कृतिक जीवन शैली का प्रतिपादक बन जाता है। इस युग का साहित्य भी इसी संस्कृति का प्रतिबिंब है।

रीतिकालीन काव्य–कृतियाँ हिंदी साहित्य में सदैव आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। रीतिकाल भारतीय इतिहास की दृष्टि से वैभव विलास, कला एवं शास्त्र ज्ञान का युग था। बड़े–बड़े राजाओं से छोटे बड़े सामंत तक भोग विलास के रंग में डूबे हुए थे। यह अतिशय भोगवाद का युग था। ब्रज का रीतिकालीन काव्य मानवता के माध्यम से मानव को महान बनाने का ऐसा उपकरण है जो विधाता के दिव्य वरदान स्वरूप है और जो इस नश्वर संसार के विरले मनुष्य को ही प्राप्त होता है। जिस मनुष्य को यह कवित्व शक्ति ईश्वर के वरदान के रूप में प्राप्त होती है, कवि की वाणी मालती के सुमन की सुवास के सदृश जनसमूह का सहज ही चित्त आकर्षित करने की सामर्थ्य से संपन्न

होती है। वस्तुतः मानव जीवन के कृष्ण पक्ष को शुक्ल पक्ष में परिवर्तित करने का सतत् पूर्ण प्रयत्नों का नाम ही काव्य है। यह काव्य लोकमंगल की कामना का पर्याय है। अपनी संस्कृति का संरक्षक है। ब्रज का रीतिकालीन काव्य अपनी संस्कृति का जन–मानस में प्रचार–प्रसार करके उसको सुरक्षित–संरक्षित करता है। सांस्कृतिक, नैतिक बोध तथा समाज एवं राष्ट्र के प्रति कर्तव्य पालन की दिशा में देशवासियों को प्रेरित करने तथा उदात्त मानवीय अनुभूतियों को जाग्रत करने में इस युग के ब्रज काव्य ने महत्त्वपूर्ण भूमिका को निभाया है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं।

वास्तव में यह युग नैतिक तथा बौद्धिक ह्रास से परिपूर्ण था जिसमें धर्म की उदात्त भावनायें विलुप्त हो गयी थीं। धर्म का प्रयोजन है व्यक्ति और समाज के नैतिक स्तर को उन्नत बनाते हुए जनता में लौकिक संघर्षों से टक्कर लेने की सामर्थ्य उत्पन्न करना। रीतिकाल में धर्म के नाम पर भी अनेक विकृतियाँ प्रविष्ट हो गयी थीं। अंधविश्वास, रूढ़ियों का अनुसरण और बाह्याडम्बरों का पालन ही धर्माचरण बन गया था। ईश्वर और खुदा की प्रेम संबंधी उदात्त भावना के स्थान पर पंडितों और मुल्ला मौलवियों का स्थूल और लौकिक प्रभुत्व प्रतिष्ठित हो गया था जिनका परामर्श और प्रभाव अंधविश्वासों से युक्त अशिक्षित जनता के लिये वेद वाक्य अथवा खुदा के कलाम के रूप में स्वीकार था। ईश्वर और खुदा के प्रतिनिधि एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी जैसे हो गये थे। दोनों की समझौते की भावना प्रायः विलुप्त सी हो गई थी। श्रीकृष्ण और राधा की माधुर्य भक्ति अब स्थूल एवं मांसल रूप ग्रहण कर चुकी थी। नैतिक भ्रष्टाचार धर्म के क्षेत्र में उतनी ही प्रबलता के साथ विकसित हो रहा था जैसे समाज के अन्य क्षेत्रों में। प्रेम मूलक रागात्मक भक्ति की उदात्त भावना को समझने और उसका अनुसरण करने की न तो जनता के मस्तिष्क में समझ थी और न वैसी भक्ति उसमें शेष थी। प्रेमलक्षणा भक्ति को माधुर्य भक्ति और शृंगार रस को उच्चतम रस के रूप में महत्व देकर चैतन्य संप्रदाय के आचार्य श्री रूप गोस्वामी ने अपने ग्रंथों में लौकिक शृंगार और प्रेम के उच्चतम रूप की स्थापना की थी और कृष्ण भक्ति का एक दिव्य स्वरूप प्रतिष्ठित करके शृंगार तत्व की स्थूलताओं का परिमार्जन किया था। कालांतर में इस प्रकार की भक्ति भावना में भाव तत्व कम हो गया और केवल स्थूल काम चेष्टाओं की अभिव्यक्ति से परिपूर्ण भक्तिपरक ग्रंथों का प्रणयन प्रारंभ हुआ।

भारतीय के नायकों आदर्श राम और कृष्ण थे और नायिकाओं में सीता तथा राधा। भले ही भारतीय साहित्य में राधा का परकीया रूप भी प्रचलित था, परंतु उसमें भी मांसलता और चांचल्य की अपेक्षा सूक्ष्मता अधिक थी। रीति कवि को फारसी के

कवि की प्रतियोगिता में आने के लिये तथा उससे बाजी मारने के लिये परिस्थितियों से बाध्य होकर राधा और कृष्ण का रूप फारसी नायक और नायिकाओं के अनुरूप गढ़ना पड़ा।"

रीतिकाल से पूर्व लक्षण ग्रन्थों की रचना प्रारंभ हो चुकी थी। कृपाराम की हिततरंगिणी, मोहन लाल का शृंगार सागर, करनेस का कर्णाभरण, श्रुतिभूषण, भूपभूषण, बलभद्र का नखशिख वर्णन, बरवै नायिका भेद, केशवदास की कविप्रिया, रसिक प्रिया, नन्ददास की रसमंजरी और बालकृष्ण की रस चन्द्रिका इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय ग्रंथ है। रीतिकाल के कवियों की सबसे अधिक संख्या रीति निरूपक आचार्य कवियों की है जो कि उपर्युक्त लक्षण ग्रन्थों से भी प्रभावित थे। उदाहरण के लिये मतिराम द्वारा रचित काव्य में नायिका के लक्षण देखिये—

उपजत जाहि बिलौकिकै चित्त बीच रस भाव
ताहि बखानत नायका जे प्रवीन कविराव॥

केशव, सेनापति, जसवंतसिंह, चिन्तामणि, मतिराम देव, भिखारीदास, पद्माकर तथा ग्वाल इत्यादि इस वर्ग के प्रमुख कवि हैं। आचार्य केशवदास को रीतिकाल का प्रवर्तक माना जाता है। ज्ञातव्य है कि भूषण ने अपने लक्षण ग्रंथ शिवराज भूषण की रचना वीर रस में की है। इसका एक उदाहरण दृष्टव्य है—

पावक तुल्य अमीतन को भयो, मीतन को भयो धाम सुधा को।
आनन्द भो गहिरो समुदै कुमुदावलि तारन को बहुधा को॥
भूतल माहिं बली सिवराज भो भूषन भाखत शत्रु सुधा को।
बंदन तेज त्यों चंदन कीरति साधे सिंगार बधू बसुधा को॥

बिहारी को गागर में सागर भरने की कला में निष्णात कहा जाता है। इसके एक एक दोहे में गंभीर अर्थ छुपा हुआ है। हाव, भाव और अनुभाव का वर्णन भी श्रेष्ठ है। अभिलाषा, गर्व, हर्ष, अमर्ष, स्मित आदि को एक साथ अभिव्यंजित करने वाला निम्नलिखित दोहा देखिए—

कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात
भरे भौन में करत हैं नैननि ही सों बात॥

रसखान, घनानन्द, ठाकुर बोधा, द्विजदेव और आलम इस काव्य धारा के अत्यंत महत्वपूर्ण तथा लोकप्रिय कवि हैं। प्रमाण के लिए आलम द्वारा रचित निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिएं—

चंद की मरीचि भरि सांचे ढारी सींचि रस,
कंचन जड़ित जनु रतन की पाँति है।
भूषन की आभा अंग सोभा के सुभाइ मिलि,
चाहे चकचौंधे चितु रबि की सी कांति है।
'आलम' सुकवि नेकु छाँह के छुये तें कान्ह,
काम के संताप हू की होति सीरी सांति है।
बोलति चलति चितवति मुसकाति अति,
रूप की निकाई छबि औरे औरे भाँति है॥

विरह की तड़प और पीड़ा के कारण ही घनानन्द, आलम, बोधा जैसे कवियों की रचनाओं में एक विशेष निखार दिखाई देता है। इनकी वियोग भावना से स्पष्ट होता है कि वास्तव में ये सच्चे प्रेमी थे और इस नाते ऐसा लगता है कि उनकी अनुभूति की मूल स्थिति संयोग नहीं वियोग ही बन गयी थी। वियोग की चिरंतन कामना इनके काव्य में देखने को मिलती है–

कनक छरी सी कामिनी काहे ते कटि छीन।
कटि कंचन काटि विधि कुचर मध्य धरि दीन।

रीतिकाल में आलम के मुक्तकों में श्रीकृष्ण और राधा को ही प्रायः आलंबन बनाया गया है किन्तु उनके नख–शिख वर्णन में राधा और कृष्ण का ही सर्वत्र उल्लेख नहीं है। उनके मुक्तकों में नख–शिख का वर्णन करते हुये किसी सामान्य नायिका का वर्णन है तो कहीं पर नामोल्लेख के कारण कृष्ण और राधा को ही स्थान दिया गया है। सामान्य वर्णन रीतिकालीन नख–शिख वर्णन के अनुकूल ही है। आलम केलि वर्णन में में प्रौढ़ा नायिका की सुंदरता और रूप माधुरी का वर्णन करते हुए लिखते हैं–

हीरा से दसन मुख बीरा नासिका की चारू,
सोने से सरीर रूचि चीर चली धाम कों।
बेनी गूँथें फूल लर गरें मखतूल छटा,
फूल की कमान देखि भूल परी काम कों॥

रीतिकाल में आलम ने ही विभिन्न विषयों से संबंधित मुक्तकों की भी रचना की है। आलम द्वारा रचित आलम केलि में बाल लीला, वंशी की मोहकता, जमुना कुंज, गंगा वर्णन, शांत रस, शिव को कवित्त, देवी को कवित्त आदि मुक्तकों पर अपनी लेखनी चलाई है। इनके पदों में सूरदास के समान वात्सल्य का रसमय वर्णन तो नहीं है किन्तु कृष्ण के बाल जीवन का स्वाभाविक वर्णन अवश्य देखने को मिलता है। इसी प्रकार माता यशोदा का वात्सल्य प्रेम भी अत्यन्त उत्कृष्ट जान पड़ता है।

आलम के काव्य की भाषा विषयानुकूल, प्रांजल, मधुर एवं कोमल कांत पदावली से युक्त है। उन्होंने प्रायः परिमार्जित एवं सुव्यवस्थित ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। इनके 'रेखता' छन्दों में अरबी फारसी के शब्द भी हैं। इनकी अनुप्रासमयी भाषा का एक उदाहरण देखिये–

मेरो सो न मेरो मनु औरै कछु भयो जनु,
पलकै न लागैं जागैं नैना औरै है भये।
जहाँ हुती तहाँ ठाढ़ी विरह की वीर बाढ़ी,
मदन की आगि जागी रोम रोम हैं तये।
'आलम' कहे हो भूली भोरहू तें भोरे आइ,
द्वारे झूमि झाँकी कान्ह देखि नेकु ही लये।
लटपटी पेचैं लखि चटपटी लागी आग,
अटपटे आये लाल मोहिं लूट कै गये॥

रीतिकालीन काव्य में ब्रज संस्कृति एवं भाषा का वैशिष्ट्य अपने पूर्ण विकसित रूप में दिखाई देता है। रीतिकालीन काव्य का केंद्र बिन्दु 'रति' अथवा श्रृंगार की मादक भावना है। केशव, चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, पद्माकर, भिखारीदास, जसवन्त सिंह, रसलीन आदि प्रमुख रीतिबद्ध और घनानंद, आलम, बोधा आदि रीतिमुक्त कवि हैं। इन्होंने बाह्य प्रवृत्तियों को प्रधानता देते हुये सामाजिक तथा व्यक्तिगत उत्कर्ष को महत्व प्रदान किया गया है। लौकिक, अलौकिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन दृष्टियों का व्यापक लोक–कल्याण मूलक समन्वय इसकी प्रमुख विशेषता है। यह जीवन यापन की श्रेष्ठतम प्रविधियों का संव्यूहन है। इनसे उत्पन्न संस्कारों की विरासत लौकिक जीवन में सभी प्रकार के विकास के सुदृढ़ सोपान प्रस्तुत करती है।

संदर्भ–

1. अष्टछाप : काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन : डॉ. मायारानी टण्डन : हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ, सन् 1960।
2. एन इन्साइक्लोपीडिया ऑफ एजूकेशन रिसर्च : एनेस्टेसी : मैकमिलन एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क, 1960।
3. आलम और उनका काव्य डॉ. भारतभूषण चौधरी : सूर्य प्रकाशन, नयी सड़क नई दिल्ली, प्रथम संस्करण।

4. एन. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ साइंस : मैलिनोवास्की : मैकमिलन एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क, 1935।
5. आलम ग्रंथावली : संपादक विद्यानिवास मिश्र : वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण।
6. काव्यशास्त्र : डॉ. भगीरथ मिश्र : विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी अष्टम संस्करण।
7. ठाकुर ग्रंथावली : संपादक स्व. चन्द्रशेखर मिश्र शास्त्री : नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण।
8. कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक : संपादक हनुमान प्रसाद पोद्दार : गीता प्रेस, गोरखपुर, तृतीय संस्करण।
9. काव्य के रूप : बाबू गुलाबराय : आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, संस्करण, 1970।

मध्यकालीन ब्रजभाषा के विकास में रीतिमुक्त कवियों की भूमिका

—कंचन सिंह

भाषा, अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। कवि अथवा लेखक अपने मनोगत उद्‌गारों को व्यक्त करने के लिए भाषा का सहारा लेता है। जिस प्रकार चित्र के लिए रेखाएं और मूर्ति के लिए प्रस्तर की काँट–छाँट अनिवार्य है, उसके बिना चित्र और मूर्ति की सत्ता हो ही नहीं सकती, उसी प्रकार भाषा के बिना साहित्य का अस्तित्व भी संभव नहीं है।[1] प्रत्येक रचनाकार अपने भावों को काव्यरूप में परिणत करने के लिए ऐसी भाषा का चयन करता है, जो उसकी अनुभूतियों को पर्याप्त कलात्मकता एवं भाव–प्रवणता के साथ सहजतापूर्वक अभिव्यक्त करने में सक्षम हो। सम्भवतः भावाभिव्यक्ति की इसी प्रेरणा के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकालीन कवियों द्‌वारा काव्य सृजन हेतु ब्रजभाषा का चयन किया गया।

हिन्दी भाषा में 'ब्रज' का अर्थ 'वज्र' से है, जो वज्र धातु से बना है। 'ब्रज' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद संहिता में प्राप्त होता है। इस शब्द के अर्थ के संबंध में एक संस्कृत उक्ति दृष्टव्य है–

ब्रजंति गावो भस्मिन्नातः ब्रजः।

अर्थात् वह स्थान जहाँ गायें चरती हैं, ब्रज कहलाता है। इस प्रकार शाब्दिक आधार पर ब्रजभाषा केवल ब्रज प्रदेश की भाषा है, जो सामान्यतया मथुरा के आस–पास अथवा ब्रजमण्डल में बोली जाती है, किन्तु साहित्यिक दृष्टिकोण से ब्रजभाषा अपने समय में अत्यंत व्यापक भाषा रही है। उसका क्षेत्र ब्रज के चौरासी कोस तक तो कहने भर को ही था, उसका प्रसार इतना व्यापक था कि आस–पास की अनेक प्रान्तीय बोलियों का अस्तित्व उसमें लोप हो गया था।[2] अर्थात् ब्रजभाषा का मूल उत्स भले ही मध्यप्रदेश अथवा ब्रजप्रदेश रहा हो, किन्तु सभी प्रान्तों के रचनाकारों ने इसे अपने सृजन का आधार बनाया–

"ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानो, ऐसे ऐसे कविन्ह की बानिहु से जानिये"।[3]

ब्रजभाषा की उत्पत्ति "शौरसैनी अपभ्रंश" से हुई है। मूलतः मथुरा की भाषा होने के कारण मधुरता इसकी विशेषता है। शौरसैनी से प्राप्त माधुर्य के साथ–साथ, भाषागत समन्वय भी संस्कार रूप में ब्रजभाषा में निहित रहा। ब्रजभाषा की सर्वग्राह्यता एवं

सरसता का प्रमुख कारण, उसका अन्यान्न भाषाओं तथा बोलियों के साथ समुचित समायोजन भी रहा। इस सन्दर्भ में भिखारी दास जी ने कहा है–

भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहै सुकवि सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारसिहु, पै अति प्रगट जु होइ।
ब्रज मागधी मिलै अमर नाग जमन भाषानि।
सहज पारसी हूँ मिले खट विधि कवित्त बखानि।[4]

रीतिकाल ब्रजभाषा के परिमार्जन का समय रहा है। इस काल में ब्रजभाषा अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक, भावप्रवण एवं लाक्षणिक हो गई। भक्तिकाल में ब्रजभाषा अपनी प्रारंभिक अवस्था में थी, परन्तु रीतिकाल में ब्रजभाषा ने प्रौढ़ता प्राप्त कर स्वयं को साहित्यिक भाषा के रूप में स्थापित कर लिया। यह रीतिकालीन कवियों का सौभाग्य ही कहा जा सकता है कि अर्थगर्भित, समृद्ध शब्द–भंडार से युक्त एवं काव्य सौंदर्य के तत्वों से सम्पन्न ब्रजभाषा उन्हें विरासत में मिली। कोमल तथा कठोर भावों के संप्रेषण में सक्षम भाषा में कवित्व–प्रदर्शन कर पाना प्रत्येक रीतिकालीन कवि के लिए सुखद रहा।

रीतिकालीन रीतिमुक्त कविता की भाषा भी विशेषतः ब्रजभाषा ही रही। घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर और द्विजदेव जैसे रीतिमुक्त कवियों ने विविध भाषाओं के शब्दों को 'ब्रजभाषा' के साँचे में ढालकर परिमार्जित स्वरूप प्रदान किया है। ब्रजभाषा के सौन्दर्य–विस्तार हेतु इन कवियों ने ब्रजभाषा के विकास को एक सुदृढ़ आधार दिया। ब्रजभाषा में रचित इन कवियों का काव्य हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि है। घनानन्द की भाषागत सहजता, ठाकुर की लोक–संवेदना, बोधा की स्वाभाविकता, आलम की रागात्मकता व द्विजदेव की चित्रात्मकता में ब्रजभाषा का मुखर सौंदर्य प्रस्फुटित होता है।

संवेदनाओं के प्रसार में भाषा का अद्वितीय महत्व है। काव्यगत विचारों की सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति भाषा के सहज गुणों पर निर्भर करती है–यथा सहजता, सरलता, मनोहरता, गेयता, सरसता, संगीतात्मकता, आलंकारिकता, कोमलता व प्रवाहपूर्णता। मध्यकाल में प्रचलित ब्रजभाषा में इन्हीं गुणों के कारण रीतिमुक्त कवि ब्रजभाषा की ओर आकर्षित हुए।

सहजता ब्रजभाषा का सर्वोत्तम गुण है। रीतिमुक्त कवियों की भाषा में कृत्रिमता या बनावटीपन के लिए कोई स्थान नहीं था। इस आधार पर ब्रजभाषा खरी उतरती है। रीतिमुक्त कवि बोधा की भाषागत सहजता दृष्टव्य है–

कबहूँ मिलिबो कबहूँ मिलिबो यह धीरज ही में धरैबो करै।
उर तें कढ़ि आवे गरे तें फिरे मन की मन ही में सिरैबो करै।
बोधा न चाड़ सरी कबहूँ नित ही हरवा सो हिरैबो करै।
सहते ही बनै कहते न बनै मनहीं मन पीर पिरैबो करै।[5]

मनःस्थिति को ज्यों का त्यों स्पष्ट करना ही सहजता है। रीतिमुक्त कवियों को हृदय की उमंग का कवि कहा जाता है। जो अनुभव है, वही काव्यरूप में वर्णित है। किसी बात को घुमा–फिरा कर कहना रीतिमुक्त कवियों के स्वभाव में नहीं था। भाषा में कलात्मकता रहे, किन्तु कृत्रिमता न हो—यही इन कवियों का मौलिक सिद्धांत रहा। कवि ठाकुर ने भाषायी कृत्रिमता का सहज विरोध प्रस्तुत किया है–

सीखि लीन्हौ मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीखि लीन्हौ जस औ प्रताप कौ कहानौ है।
× × × ×
ढेल सौ बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कबित्त कीबो खेल करि जानौ है।[6]

घनानन्द ने ब्रजभाषा को परिष्कृत कर इसे अधिक रमणीय बनाया। उनसे पूर्व के कवियों ने इस दिशा में अनेक रचनाएँ कीं, किन्तु ब्रजभाषा का जो लालित्य एवं माधुर्य घनानन्द के काव्य में मिलता है, वह अन्यत्र असंभव है। उनके ब्रजभाषा के प्रति स्नेह को प्रशस्तिकार ब्रजनाथ ने बखूबी स्पष्ट किया है। ब्रजभाषा में पारंगत घनानन्द के काव्य में आद्यांत सरसता समाहित है। वे ब्रजभाषा की नब्ज पहचानते थे। उनका शब्द–चयन अद्भुत था, जिसके द्वारा वे अभीष्ट को प्राप्त करने में सफल रहे–

नेही महा ब्रजभाषा–प्रवीन औ सुन्दरतानि के भेद को जानै।
जोग बियोग की रीति में कोबिद, भावना–भेद–स्वरूप को ठानै।
चाह के रंग में भीज्यो हियौ, बिछुरै–मिलै प्रीतम सांति न मानै।
भाषा प्रबीन, सुछंद सदा रहै, सो घन जी के कबित्त बखानै।[7]

घनानन्द ने ठेठ ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। ब्रजभाषा के साथ–साथ संस्कृत, अरबी, राजस्थानी, खड़ी बोली व पंजाबी भाषा के शब्द भी उनके काव्य में परिलक्षित होते हैं। विविध भाषाओं के शब्द–समन्वय पर भी उनकी भाषा दोषमुक्त रही, यही प्रयोग उनकी काव्य भाषा को समृद्ध बनाता है। ब्रजभाषा में अवधी शब्दों का सुन्दर अवगुंठन दृष्टव्य है–

हम सौ हित कै कित कौं हित ही

चित–बीच बियोगहि बोय चले।

सु अखैबट बीज लौं फैलि परयौ

बनमाली कहाँ धौ समोय चले।[8]

रीतिमुक्त कवि ठाकुर के काव्य में ब्रजभाषा सौन्दर्य में वृद्धि करने वाले अरबी–फारसी शब्दों का सुन्दरतम प्रयोग मिलता है। ये शब्द जन–भाषा में कुछ इस तरह घुल मिल गये हैं, कि उनमें विदेशीपन का भाव ही नहीं रहता–

मीरजादे पीरजादे असल अमीरजादे,

साहेब फकीरजादे जादे आप खो रहे।

साबजादे, राइजादे, साहुजादे, शाहजादे,

कुल के असील जादे नींद ही में सो रहे।[9]

भाषा, कवि के भावों की अनुवर्तिनी है। कवि जिस प्रकार के भावों को व्यक्त करना चाहता है, उसी के अनुरूप भाषा को ढाल लेता है। रीतिमुक्त कवियों की भाषा चित्रात्मक एवं संगीतात्मक है। रीतिमुक्त कवियों का समस्त काव्य हृदय–वीणा के तारों से झंकृत है, अतः संगीतात्मकता इनके काव्यकर्म में रच–बस गई है। इनके काव्य में प्रयुक्त कवित्त और सवैयों की संगीतात्मकता हृदयस्पर्शी एवं रमणीय है–

चहकि चकोर उठे सोर करि भौंर उठे,

बोलि ठौर ठौर उठे कोकिल सुहावने।

खिलि उठी एकै बार कलिका अपार,

हलि हलि उठे मारुत सुगंध सरसावने।[10]

रीतिकालीन रीतिमुक्त कवियों ने ब्रजभाषा का परिष्कार, संस्कार एवं सुन्दर श्रृंगार किया है। इनके अनुसार ब्रजभाषा चमत्कार प्रदर्शन का साधन है। रीतिमुक्त कवियों ने शब्द समूह, मुहावरे–लोकोक्ति, लाक्षणिक प्रयोग, गुण प्रयोग एवं उक्ति वैचित्र्य के सहयोग से ब्रजभाषा को समृद्ध बनाया। मुहावरों व लोकोक्तियों के माध्यम से इन कवियों ने ब्रजभाषा की अभिव्यंजना शक्ति को जागृत किया। रीतिमुक्त कवि घनानन्द ने मुहावरों के विशद प्रयोग तथा ठाकुर ने लोकोक्तियों के अनूठे प्रबन्ध से ब्रजभाषा को गति प्रदान की–

घन आनन्द आपने चातक कों, गुन बाँधि लै, मोह न छोरियै जू।

रस प्याय कै ज्याय, बढ़ाय कै आस, बिसास मैं यो बिस घोरियै जू।[11]

लोकोक्तियों के विधान में ठाकुर कवि का कोई सानी नहीं है। वे मुहावरों की अपेक्षा लोकोक्ति प्रयोग में अधिक प्रवीण हैं। "लोकोक्तियों की उनमें वैसी ही प्रमुखता है, जैसी घनानन्द में विरोधाभास की। भाषा को प्राणवान, अभिव्यक्ति को सरल, भाव संवेदन को प्रकर्ष बनाने में ठाकुर के लिए लोकोक्तियाँ सबसे बड़ा साधन रही हैं।"[12] ठाकुर की लोकोक्तियाँ स्वयं में बेजोड़ हैं–

दान दया बिन दीबौ कहा अरु लीबो कहा जब आपु तै माँगो।
प्रान गये रस पीबौ कहा पग छीबो कहा उर प्रेम न जागो।
नारि कहा जेहि लाज तजी गुरु कीबो कहा भ्रम दूर न भागो।
वा जग में फिर जीबो कहा जब आँगुरी लोग उठावन लागो।[13]

रीतिमुक्त कवि आलम की भाषा भी ब्रजभाषा के अपनेपन में रँगी है। उनकी श्रेष्ठता भाषा का संतुलित रूप है। उनकी भाषा में न तो संस्कृत शब्दों का आधिक्य है और न ही अरबी–फारसी शब्दों का बाहुल्य। उन्होंने इस क्षेत्र में संयम एवं समन्वय से काम लिया है। आलम की भाषा में भी अर्थगर्भिता व प्रांजलता विद्यमान है। भाषा का प्रवाह ऐसा है कि पाठक भावमग्न होकर प्राकृतिक मिठास का रसानुभव करता है। संस्कृत शब्दों से भी उनके काव्य की मिठास कम नहीं होती–

लता–प्रसून डोल बोल कोकिला अलाप केकि,
लोल कोक–कंठ त्यों प्रचंड भृंग गुंज की।
समीर बास, रास–रंग रास के बिलास बास,
पास हंस नंदिनी हिलोर केलि–पुंज की।[14]

अलंकारों के सहज निर्वाह के साथ–साथ रीतिमुक्त कवियों ने तीनों शब्द शक्तियों– अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना का समुचित प्रयोग किया है। बोधा के काव्य में अभिधा युक्त भाषा है तो घनानन्द लक्षणा और व्यंजना के सिद्ध हस्त कवि हैं। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार, "लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिन्दी कवियों ने उसके भीतर कम ही पैर बढ़ाया। एक घनानन्द ही ऐसे कवि हुए जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगाई है।"[15]

उजरनि बसी है हमारी अँखियान देखो,
सुबस सुदेस जहाँ भावते बसत हैं।[16]

प्रणय में आस्था रखने वाले निश्छल एवं आडम्बरहीन रीतिमुक्त कवियों ने केवल माधुर्य व प्रसाद गुण को ही प्रधानता दी। घनानन्द तथा आलम के काव्य में माधुर्य और

प्रसाद गुण को प्रमुखता मिली, तो वहीं ठाकुर के काव्य में ओज, प्रसाद व माधुर्य तीनों गुणों का समावेश मिलता है।

सारांशतः कहा जा सकता है कि उत्तर मध्यकाल ब्रजभाषा के संवर्द्धन का स्वर्णिम युग है। रीतिमुक्त कवियों ने अपनी उत्कृष्ट काव्य प्रतिभा से ब्रजभाषा को और अधिक उन्नत बनाया है। ब्रजभाषा के परिष्करण एवं उसकी कलात्मक गरिमा को निश्चितता प्रदान करने में रीतिमुक्त कवियों का योगदान अनुपम है।

संदर्भ–

1. डॉ. श्याम सुन्दर दास, साहित्य लोचन, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद 1957, पृ. 51
2. डॉ. नगेन्द्र, देव और उनकी कविता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, चतुर्थ संस्करण–1969, पृ. 210
3. भिखारीदास–काव्य निर्णय, बेलवेडियर प्रेस प्रयाग 1948, प्रथम उल्लास, छन्द–16
4. वही, छन्द, 14-15
5. सं.–विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, बोधा ग्रन्थावली, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, प्रथम सं.–सं. 2031, पृ. 21, छन्द 71
6. सं.–विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ठाकुर ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, प्रथम सं.–सं. 2030, पृ. 3, छन्द 7
7. सं.–विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, घनानन्द कवित्त, सरस्वती प्रकाशन जतनबर वाराणसी, पंचम सं.–सं. 2021, पृ. 41, छन्द 1
8. वही, पृ. 114, छन्द–133
9. सं.–विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ठाकुर ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, प्रथम सं.–सं. 2030, पृ. 54, छन्द 209
10. डॉ. अंबिका प्रसाद वाजपेयी, द्विजदेव और उनका काव्य, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्र. सं.–सं. 2024, पृ. 189
11. सं.–विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, घनानन्द कवित्त, सरस्वती प्रकाशन जतनबर वाराणसी, पंचम सं.–सं. 2021, पृ. 48, छन्द 14
12. डॉ. कृष्णचन्द्र वर्मा, रीतिस्वच्छन्द काव्यधारा, कैलाश पुस्तक सदन आगरा, प्रथम सं.–सं. 1967, पृ. 379

13. सं.–विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ठाकुर ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, प्रथम सं.–सं. 2030, पृ. 45, छन्द 178
14. सं.–विद्यानिवास मिश्र, आलम ग्रंथावली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सन्–2002, पृ.–88, छन्द–245
15. आ. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, श्री प्रकाशन दिल्ली, नवीन संस्करण, पृ. 235
16. सं.–विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, घनानन्द कवित्त, सरस्वती प्रकाशन जतनबर वाराणसी, पंचम सं.–सं. 2021, पृ. 69, छन्द 50

गद्य के विकास में ब्रजभाषा का योगदान

–नीरज शर्मा

मनुष्य के जीवन की रागात्मक एवं संवेगात्मक चित्रवृत्ति का लिपिमय स्वरूप साहित्य कहलाता है और मनुष्य की चिंतनशील, विवेकी, जटिल समस्याओं के समाधान की तर्कात्मक, बौद्धिक सृजनशीलता 'गद्य' कहलाती है। पद्य में मनुष्य की मुख्य रूप से सुकोमल, संवेदनात्मक एवं नाद–सौन्दर्यात्मक जीवनुभूति का अंकन होता है किन्तु 'गद्य',विशुद्ध रूप से मनुष्य के वैचारिक दृष्टिकोण को अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

गोरखनाथ का साहित्य हिन्दी पद्य भाषा एवं साहित्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसी समय के आस–पास उर्दू एवं फारसी के प्रसिद्ध लेखक अमीर खुसरो के समय में ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली का आरम्भ हुआ है। इसका रचनाकाल सन् 1283 के आस–पास था। इनके गीतों व दोहों की भाषा ब्रजभाषा है। जिसमें बासों, भयो, वाको, मोहि अचम्भो आवत बसत है देखत में मेरो, भयो हैं डरावन लागै–डस–डस जाय, जैसे ब्रजभाषा रूप उनकी कविता में बहुतायत में देखने को मिलते हैं।

आचार्य शुक्ल, हिन्दी भाषा एवं गद्य के पूर्व अस्तित्व के सन्दर्भ में ब्रजभाषा में रचित पुस्तक की खोज कर उसे हठयोग, ब्रह्मयान आदि से संबंध रखने वाले किसी गोरखपंथी की मानते है जिसका निर्माणकाल संवत् 1407 के आसपास सुनिश्चित करते हैं। उक्त विवेच्य पुस्तक में 'पूछिबा', 'कहिबा' आदि शब्दों के प्रयोग के आधार पर उस पुस्तक के रचयिता को राजपूताने का निवासी मानते हैं। उक्त पुस्तक के गद्य को संवत् 1400 के आस–पास का बताते हैं। इस पुस्तक के ब्रजभाषा गद्य का नमूना यहाँ उद्धृत है–**"श्री गुरू परमानन्द तिनको दंडवत हैं कैसे परमानंद, आनंदस्वरूप हैं सरीर जिन्हि के नित्य ते शरीर चेतन्नि अरू आनदमय होत है। मैं जु हौं गोरिष सो मछंदरनाथ को दंडवत करत हौं। हैं कैसे वे मछंदरनाथ! आत्मज्योति निश्चल है अंत: करन जिनके अरू मूलदार तैं छक चक्र जिनी नीकि तरह जानैं।"**[1]

शुक्ल जी के इस उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि ब्रजभाषा गद्य का विशुद्ध आरम्भ गोरखनाथ द्वारा रचित पुस्तक के अंश संवत् 1400 के आस–पास मानते हैं। किन्तु प्रेमनारायण टंडन अपनी पुस्तक "बीसवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी गद्य का विकास" में अपने कुछ संशय प्रकट करते हैं तथा डॉ. रामचन्द्र तिवारी अपने प्रसिद्ध

गद्य–ग्रंथ 'हिन्दी का गद्य साहित्य' में भी ब्रजभाषा–गद्य का सूत्रपात कब से आरम्भ होता था। इसके संदर्भ में भी कुछ निश्चित मत प्रकट नहीं करते हैं। किन्तु वे आदिकालीन हिन्दी–गद्य (9वीं से 14वीं शती तक) के स्वरूप के सन्दर्भ में निम्न कृतियों का प्रमुख रूप से योगदान मानते हैं–

1. कुवलमाला कथा (9वीं शती)
2. राउलवेल (11वीं शती)
3. उक्तिव्यक्ति प्रकरण (12वीं शती)
4. वर्णरत्नाकर (14वीं शती)
5. कीर्तिलता (14वीं शती)

विद्यापति द्वारा 'कीर्तिलता' ग्रंथ की रचना चौदहवीं शती में हुई थी तथा यह एक वीरगाथात्मक काव्य है जो विद्यापति ने अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह की प्रशंसा में लिखा था। यह मैथिली भाषा में मुख्यतः रचित है तथा इसमें बीच–बीच में गद्य का भी प्रयोग देखने को इस प्रकार मिलता है–**"तान्हि वेश्यन्हि करो मुख्सार मण्डन्ते अलक तिलक पत्रवी खंडन्ते। दिव्याम्बर पिन्धन्ते, अभारि उभारि केशपास बन्धते सखिखन॥ प्रेरन्तु, हँसि हेरन्ते। सआनी लानुमी पातरी पतोहरी, तरूणी॥ तरट्टी वन्ही, विअखवणी परिहास पेवसी, सुन्दरी सार्थ॥ जबे देखिअ तबे मन करे तेसरा लागि तीनू उपष्खिआ॥" (अर्थात् वेश्यायें मुख को सार (चन्दन लेपादि) से मण्डन करतीं। अलकों में तथा कपोल स्हनादि पर कुकुंम चन्दनादि से पत्रावली (चित्र) बनातीं। दिव्य वस्त्र धारण करतीं, उभार–उभारकार केशपास बाँधतीं, दूतियों को प्रेरित करती हैं कि वे नायक के पास जाये। हँसकर देखतीं। तब उन सयानी लावन्यमयी, पतली, कृशोदरी, तरूणी, चंचला, बनी (वनिता) विचक्षणी (चतुरा) परिहास प्रगल्भा, सुन्दरी नायिकाओं को देखकर इच्छा होती है कि तीसरे पुरूषार्थ (काम) के लिए अन्य तीनों छोड़ दिये जायें।)"**[2] इस प्रकार आदिकालीन गद्य साहित्य में विद्यापति द्वारा रचित यह रचना कीर्तिलता मैथिली गद्य साहित्य की विशेष महत्वपूर्ण कृति कहलाती है।

ब्रजभाषा गद्य साहित्य को गोरखनाथ (9वीं शती) तथा अन्य सिद्ध, नाथ साहित्यकारों के बाद दूसरा उदाहरण पुष्टिमार्गी कृष्णभक्तों का आता है। जिन्होंने ब्रजभाषा गद्य के विकास में अपनी रचनाओं द्वारा महत्वपूर्ण योगदान दिया। 10वीं शताब्दी में कृष्णभक्ति साहित्य के प्रणेता श्री बल्लाभाचार्य के पुत्र श्री विठ्ठलनाथ जी का 'श्रृंगाररस मंडन' नामक ग्रंथ मिलता है। जिसमें राधा कृष्ण की प्रेम विषयक रासलीला का चित्रण देखने को मिलता है। यह कृति ब्रजभाषा की दृष्टि से अति

महत्वपूर्ण रचना है किन्तु इसमें साहित्यिक गद्य की लय प्रवाहित नहीं होती दिखती। इस ग्रंथ की रचना का भाषा–अंश इस प्रकार है–**"प्रथम की सखी कहतु है। जौ गोपीजन के चरणें विष सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि के इनके मंद हास्य न जीते हैं। अमृत समूह ता करि निकुंज विषै श्रंगार श्रेष्ठ रसना कीनों सो पूर्ण होत भई।"**[3]

श्री विठ्ठलनाथ जी के "श्रृंगार रस मंडन" ग्रंथ के बाद 16वीं शताब्दी में दो वार्ता–ग्रंथ "चौरासी वैष्णवों की वार्ता" तथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' प्रकाशित हुए, जो साहित्यिक ब्रजभाषा गद्य की दृष्टि से बहुत व्यवस्थित एवं सुदृढ़ भाषा में लिखित थे। प्रथम ग्रंथ "चौरसी वैष्णवों की वार्ता" ग्रंथ के लेखक आचार्य वल्लभाचार्य के पौत्र तथा गोसाई विठ्ठलनाथ जी के पुत्र गोसाईं गोकुलनाथ जी थे। किन्तु इस ग्रंथ के संदर्भ में इस तथ्य पर अनेक विद्वानों ने अपना संशय प्रकट किया है तथा यह माना है कि उक्त रचना गोसाईं विठ्ठलनाथ जी की ना होकर इनके किसी शिष्य की रचना है। जिसका आधार इस ग्रंथ में अनेक स्थानों पर इनका भक्तिभाव से महिमा का मंडन चित्रित किया गया है। साथ ही इस ग्रंथ में 'बल्लभ संप्रदाय' तथा वैष्णव भक्तों का कीर्तिमान मुखरित हुआ है। इन पुस्तकों के रचनाकाल के सन्दर्भ में भी विद्वानों के मतैक्य नहीं मिलते हैं। शुक्ल जी एवं डॉ. रामचन्द्र तिवारी जी उक्त रचना का समय काल विक्रम की 17वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध मानते हैं।

'दो सौ बामन वैष्णवों की वार्ता' का रचनाकाल 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' ग्रंथ के बाद औरंगजेब के समय में लिखा माना जाता है। 'वनयात्रा' पुस्तक के लेखक भी गोकुलनाथ जी हैं। 'दो सौ बामन वैष्णवों की वार्ता' की पुस्तक में वार्ता–कथाओं के साथ–साथ बोलचाल की ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है। जिसमें यदाकदा अरबी–फारसी के शब्दों का भी निसंकोच प्रयोग देखने को मिलता है। इन कथाओं–वार्ताओं का उद्देश्य मुख्य रूप से साहित्यिक नहीं था। शायद इसी कारण शुक्ल जी उक्त दोनों रचनाओं को 'साम्प्रदायिक ग्रंथों' की संज्ञा देते हैं–'दो सौ बामन वैष्णवन की वार्ता' पुस्तक के दो उद्धरण अंश इस प्रकार हैं–**(क) "नन्ददास जी तुलसीदास जी के छोटे भाई हते। सो बिनकु नाच–तमासा देखिबे को तथा गान सुनिबे को शोक बहुत हतौ। सो वा देश में सूँ एक संग द्वारका जात हतो। सो नंददास जी ऐसे विचार के में श्री रणछोड़ जी के दर्शन कूँ जाउँ तो अच्छौ है। जब बिसने तुलसीदास जी सूँ पूँछी तब तुलसीदास जी श्री रामचन्द्र जी के अनन्य भक्त हते। जासू बिनने द्वारका जायबे की नाहीं कही।"**

(ख) **"तब नन्ददास जी श्री गोकुल चले। तब तुलसी दास जी कूँ संग–संग आऐ। तब आयके नंददास जी ने श्री गुसाईं जी के दर्शन करे। साष्टांग दंडवत करी, और तुलसीदास जी ने दंडवत करी नहीं। और नंददास जी कूँ तुलसीदास जी ने कही के जैसे दर्शन तुमने वहाँ कराये वैसे जी यहाँ कराओ तब नंददास जी ने गुंसाईं जी सों विनती करी ये मेरे भाई तुलसीदास हैं। श्री रामचन्द्र जी बिना और कूँ नहीं नमें हैं। तब श्री गुसाईं जी ने कही तुलसीदास जी बैठो।"**[4] उपर्युक्त दोनों उद्धरित अंशों से यह स्पष्ट होता है कि इस पुस्तक की भाषा में ब्रजभाषा गद्य की सामान्य बोलचाल की भाषा मुक्त रूप से दृष्टिगत हुई है। श्री गोकुल नाथ जी के बाद अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास जी के दो ग्रंथ ब्रजभाषा गद्य में मिलते हैं–पहला 'नसिकेत पुराण भाषा' और दूसरा 'विज्ञानार्थ प्रवेशिका'। इनका रचनाकाल सन् 1568 ई. के आसपास होना चाहिए। 'नासिकेत पुराण भाषा' ग्रंथ संस्कृत ग्रंथ 'नासिकेत पुराण' का ही ब्रजभाषा में अनुवाद है। तथा दूसरा ग्रंथ 'विज्ञानार्थ प्रवेशिका' जो संस्कृत ग्रंथ की ब्रजभाषा–गद्य टीका है। इस टीका को मिश्र बंधुओं ने छतरपुर में भी देखा था। **"सो श्री नंदगाम में रहतो हतो। सारे खंडन ब्राह्मण शास्त्र पठ्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं। सबको खंडन करतो, ऐसो नेम हतो। याही तै सब लोगन ने बाको नाम खण्डन परयो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभु जी के सेवक वैष्णव की मंडली में आयौ। सो खण्डन कर लायौ। बैष्णवन ने कही जो तेरी शास्त्रार्थ करनो हो वै जो पण्डित के पास जा हमारी मंडली में तेरे आयबै को काम नहीं। इहाँ खण्डन मण्डन नहीं। भगवद्वार्ता को काम है भगवतयश सुननो होवै तो इहाँ आवो।"**[5]

संवत् 1660 के आसपास नाभादास जी द्वारा रचित 'अष्टयाम' ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखित मिलता है। यह ग्रंथ श्री राम की भक्ति के संदर्भ में लिखा गया है जिसमें भगवान राम के आठों पहरों की दिनचर्या का वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ की भाषा का अंश इस प्रकार है–**"तब श्री महाराज कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरण छुई प्रनाम करत भए। फिर ऊपर वृद्ध समाज तिनकों प्रनाम करत भए। फिर भी राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेन्द्रनाथ दशरथ जू निकट बैठते भए।"**[6] नाभादास जी की भाषा पर गोस्वामी बिठ्ठलनाथ जी की गद्य–भाषा का प्रभाव लक्षित होता है। जैसे–करत भये, बैठत भये आदि कुछ–कुछ मिलते–जुलते रूप इनकी भाषा में सहज रूप से देखने को मिलते हैं।

सन् 1600 ई. के आसपास एक और प्रेमदास नाम के गद्य–लेखक का प्रादुर्भाव होता है। जिन्होंने राधा–बल्लभ सम्प्रदाय के प्रणेता स्वामी हितहरिवंश जी के प्रसिद्ध

ग्रंथ 'हितचौरासी' की बड़े विस्तार से लगभग 500 पृष्ठों में टीका लिखी जो ब्रजभाषा गद्य की महत्वपूर्ण टीकाओं में स्थान रखती है। इसके रचनाकाल के सन्दर्भ में निश्चित कुछ कहा नहीं जा सकता। किन्तु स्वामी हितहरिवंश जी का रचनाकाल सन् 1540 ई.–1580 ई. तक माना जाता है। अतः प्रेमदास जी की टीका निश्चित ही इनके रचनाकाल के बाद में लिखी गई होगी। इसी समय के आस–पास गोस्वामी तुलसीदास जी का लिखा हुआ एक 'पंचनामा' मिलता है जिसकी भाषा ब्रज तो नहीं, सामान्य बोलचाल की अवधी है किन्तु इसमें उनके द्वारा प्रयुक्त मांगा, माना आदि शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं जो तत्कालीन राजकीय भाषा के प्रभाव स्वरूप प्रयुक्त हुए मिलते हैं। इसकी रचना सन् 1612 ई. में हुई मानी जाती है। उदाहरण स्वरूप इसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–**"सं. 1669 समये कुमार सुदी तेरसी बार शुभ दिने लिखीत पत्र आनन्द–राम तथा कन्हई के अंश विभाग पूर्व मु आगे जे भाग्य दुनहु ने विदित तफसील अंश टोडरमल के माह जे विभाग पदु होत रा। .....। मौजे भेंदनी यह अंश पाँच तेहि यहँ अंश दुदू आनन्दराम तथा लहरतारा सगरेह तथा पितुपुरा अंश टोडरमलुक तथा टमपुरा अंश टोडरमल की हील हुज्जती नाश्ती"**[7] इसी समय के आस–पास एक जैन विद्वान कवि बनारसी दास भी मिलते हैं जिनका जन्म सन् 1586 ई. में हुआ था। इनके लिखे ब्रजभाषा गद्य में उपदेश मिलते हैं। तथा सन् 1613 ई. के लगभग इन्होंने एक पुस्तक लिखी थी जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं **"सम्यग दृष्टि कहा, सो सुनो। संशय, विमोह विभ्रम तीन भाष जामैं नाही सो सम्यग दृष्टि संशय, विमोह, विभ्रम कहाँ? ताके स्वरूप दृष्टान्त करि दिखाइयतु है सौ सुनो॥"**[8]

संवत् 1680 के लगभग बैकुण्ठमणि शुक्ल जी के दो ब्रजभाषा गद्य की पुस्तकें, 'अगहन महात्मय' व 'वैशाख महात्मय' उपलब्ध होती हैं। ये दोनों रचनाएँ महाराज जसवन्त सिंह की रानी को सुनाने के उद्देश्य से लिखी गई थीं। इस बात की प्रशस्ति के लिए दूसरी पुस्तक में लेखक इस रूप में कहते हैं–**"सब देवतन की कृपा तें बैकुंठमणि सुकुल श्री महारानी श्री रानी चन्द्रावली के ध्रम पदिबे के अरथ यह जयरूप ग्रंथ वैशाख–महात्मक भाषा करत भये॥"**[9] इन रचनाओं के उद्धरणों से यह भली–भाँति ज्ञात हो जाता है कि ये रचनाएँ मूल कृति न होकर अनूदित रचनाएँ हैं। बैकुण्ठमणि के समीचीन ही विष्णुपुरी नामक एक लेखक और मिलते हैं। जिन्होंने 'भक्ति–रत्नावली' नामक ब्रजभाषा गद्य में अनूदित ग्रंथ की रचना की। यह रचना अपने समकालीन अन्य ग्रंथों में बड़ी रचना मानी जाती है। इसके आस–पास किसी

लेखक का 'भूवनदीपिका' नामक ग्रंथ और प्राप्त होता है। इसका रचनाकाल सन् 1614 ई. है।

बैकुण्ठमणि शुक्ल के दोनों माहात्म्य ग्रंथों के लगभग 80-90 वर्षों के बाद संवत् 1760 के बाद ब्रजभाषा में लिखा एक ग्रंथ 'नासिकेतोपाख्यान' मिलता है। जिसके लेखक के संदर्भ में कोई जानकारी प्राप्त नहीं हैं। इसकी भाषा बहुत व्यवस्थित एवं परिष्कृत जान पड़ती है—**"हे ऋषीश्वरो! और सुनो, मैं देख्यो है सो कहँ। काले वर्ण महादुख के रूप, जम किंकर देखे। पंथ में चाप कमी कौ जमदूत चलाइ कै मुद्गर अरू लोहे के दंड कर मार देते हैं। आगे जीवन को त्रास देते देखे हैं सु मेरी रोम–रोम खरी होत है।"[10]**

आधुनिक खड़ी बोली के गद्य साहित्य में इसी 'नासिकेतोपाख्यान' नाम से बहुत चर्चित पुस्तक सदल मिश्र जी की प्राप्त है जो खड़ी बोली गद्य के प्रमुख चार स्तम्भों में से एक महत्वपूर्ण आधार सूत्र हैं।

संवत् 1767 में आगरे के सुरति मिश्र जी द्वारा संस्कृत की कथा को आधार बनाकर 'बेताल–पचीसी' नामक ब्रजभाषा में पुस्तक लिखी गई। इसी पुस्तक को आधार बनाकर आगे लल्लूलाल जी ने खड़ी बोली हिन्दी हिन्दुस्तानी भाषा में 'बेताल–पचीसी' की रचना की। इसके बहुत बाद में संवत् 1852 में जयपुर नरेश संवाई प्रताप सिंह की आज्ञा लेकर लाला हीरालाल ने 'आईन–ए–अकबरी' की भाषा वचनिका नाम की एक बड़ी पुस्तक की रचना की। इसकी भाषा का उद्धरण अंश इस प्रकार है—**"अब शेख अबुलफजल ग्रंथ को करता प्रभु को निमस्कार करि कै अकबर बादशाह की तारीफ लिखने को कसत करै अरू कहै है—याकी बड़ाई चेष्टा अरू चिमत्कार कहाँ तक लिखुँ। कही जात नाहीं। तातें याकें पराक्रम अरू भाँति–भाँति के दसतुर बा मनसुबा दुनिया में प्रकट भए ताकों संखेप लिखत हैं।"[11]**

इस पुस्तक की भाषा में अरबी–फारसी के अनेक प्रचलित शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसकी भाषा सामान्यतः बोलचाल की भाषा रही है। सन् 1795 ई. में लल्लूलाल कृत 'राजनीति' (1802 ई.) तथा 'माधोविलास' (1817 ई.) में लिखित ब्रजभाषा गद्य की अनूदित तथा मौलिक गद्य रचनाएँ प्राप्त होती हैं। मौलिक तथा अन्य ब्रजभाषा में रचित अनूदित कृतियाँ–माँडला के माणिकलाल ओझा कृत 'सोम वंशन की वंशावली' 1828 ई. में लिखित उल्लेखनीय कृति है।

इस प्रकार ब्रजभाषा गद्य की अनेक रचनाओं द्वारा इसके विकास को निरंतर आलोकित किया गया। किन्तु साहित्यिक दृष्टि से पूर्णतः व्यवस्थित एवं परिष्कृत रचना जैसी खड़ी बोली हिन्दी गद्य की मिलती है, उतना इनका स्पष्ट प्रभाव देखने को नहीं

मिलता है। यद्यपि 'वार्ता–साहित्य' के ग्रंथों में ब्रजभाषा गद्य का रूप कुछ स्पष्ट चित्रित है परन्तु उनके बाद ब्रजभाषा गद्य का मुखर विकास देखने को नहीं मिलता।

यद्यपि रीतिकालीन ब्रजभाषा गद्य में लिखित अनेक महत्वपूर्ण टीका ग्रंथ उपलब्ध होते हैं जो बहुत प्रसिद्ध भी हुए हैं। सर्वाधिक रीतिकालीन टीकाएँ, रीतिकाल के कवि कुल शिरोमणि बिहारीलाल द्वारा रचित 'सतसई' की मिलती हैं। अतः रीतिकालीन प्रमुख टीका–ग्रंथों को क्रमानुसार हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं–

1. हरिचरणदास कृत 'बिहारी सतसई की टीका' (1777 ई.) तथा 'कविप्रिया की टीका' 1778 ई.।
2. प्रियादास कृत 'हरिवंश' के पदों की टीका।
3. अयोध्या के महन्त रामचरण कृत 'रामायण–सटीक'–1784 ई.।
4. असनी वाले ठाकुर द्वितीय कृत 'देवकीनंदन टीका' के नाम से प्रसिद्ध 'बिहारी सतसई की टीका' 1804 ई.।
5. जानकी प्रसाद कृत 'रामचंद्रिका की टीका' 1815 ई.।
6. रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'बीजक' की टीका।
7. काशीराज ईश्वरी प्रसाद नारायण कृत 'मानस–परिचर्या परिशिष्ट' 1855 ई. की टीका।
8. प्रतापसिंह कृत 'रसराज' की टीका 1839 ई.।
9. सरदार कवि कृत 'रसिक प्रिया की टीका' 1846 ई. एवं सूरदास के दृष्टिकूट 1847 ई. तथा 'कविप्रिया' की टीका 1854 ई. आदि प्रसिद्ध रहीं हैं।

किन्तु इनकी भाषा बहुत अधिक परिष्कृत नहीं थी। साथ ही काव्य के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त करने में भी ये टीकायें अधिक योगदान नहीं दे पाती हैं। काव्य–संग्रहों के बीच–बीच में आने वाली गद्य–टीकाओं तथा साहित्यकारों द्वारा अपनी काव्य रचनाओं में भी ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। इस प्रकार की व्याख्या गद्य में श्री हरिनाथ गुजराती के 'संग्रह कवित्त' (1764 ई.), 'रामसनेही सम्प्रदाय' के संस्थापक स्वामी रामचरणदास के 'अणभौविलास' (1788 ई.) रसिक गोविन्द के 'रसिक गोविन्दानन्हान' (1801 ई.) प्रतापसिंह के रीति–ग्रंथ 'काव्यप्रभाकर' (1847 ई.) तथा सरदार कवि के 'मानस रहस्य' (1849 ई.) आदि ग्रंथ में बीच–बीच में गद्य के उद्धरण भी प्रयुक्त हुए हैं। शिराजुदौला के दरबारी श्री हरिनाथ गुजराती के 'संग्रहकवित्त' (1746 ई.) में जिस प्रकार का गद्य प्रयुक्त हुआ है उसका भाषा–अंश यहाँ दिया है–**"एक मर्द ने इक चिरिया पकरी वा चिरिया ने पूँछयों जो तूँ मों कों**

पकरि ल्यायो अब मों कों तू कहा करगो। तब वाने कही जो मैं तोकों मारि के खाँऊगो।"[12]

उपर्युक्त टीका–ग्रंथों, काव्य–संग्रहों के बीच में उद्धरित ब्रजभाषा तथा मौलिक एवं अनूदित रचनाओं के गद्य साहित्य के अतिरिक्त तत्कालीन समय में कुछ गद्य–नाटक भी रचे गए। जिनका विवरण इस प्रकार है–

1. कविवर देव रचित 'देवभाषा प्रपंच'।
2. राम कवि रचित 'हनुमंत नाटक'।
3. नेवाज रचित 'शकुन्तला नाटक'।
4. रीवां नरेश महाराज सिंह 'रचित आनंद रघुनन्दन'।
5. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गोपाल चन्द्र गिरधरदास द्वारा रचित 'नहुष' नाटक।

इन सभी नाट्य रचनाओं में से महाराज विश्वनाथ द्वारा रचित 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक हिन्दी साहित्य का सफल एवं नाटकीय–शिल्प की विशेषताओं के कारण प्रथम पूर्ण कालिक नाटक माना जाता है किन्तु कुछ विद्वानों के मत के आधार पर भारतेन्दु के पिता गोपाल चन्द्र गिरधरदास जी का 'नहुष' नाटक हिन्दी का प्रथम नाटक माना जाता है। यह विवाद एवं खोज का विषय है। इन सब में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि रीतिकालीन ब्रजभाषा गद्य में जितने भी ग्रंथ रचे गए, वे प्रायः अधिकतर संस्कृत साहित्य से प्रभावित थे।

कुल मिलाकर उपरोक्त ब्रजभाषा गद्य–साहित्य के वर्णन एवं विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि साहित्यकार दृष्टिकोण से ब्रज गद्य का जो भी प्रार्दुभाव हुआ उसमें अपभ्रंश भाषा के राजस्थानी मिश्रित–गद्य का विशेष प्रभाव था। हालांकि उसमें भाषागत् अशुद्धियाँ, त्रुटियाँ भी थीं किन्तु अन्य कालखण्डों (भक्तिकाल एवं रीतिकालीन) के गद्य साहित्य में भी बहुत नवीनता या भाषागत प्रगति देखने को नहीं मिलती है। किन्तु इन सब गद्य–साहित्य की रचनाओं के आधार पर हमें यह अवश्य मानना होगा कि अपभ्रंशकालीन गद्य–रचनाओं, आदिकालीन गद्य–रचनाओं, भक्तिकालीन–रीतिकालीन तथा कुछ आधुनिककालीन नाट्य रचनाओं के आलोक में हिन्दी गद्य साहित्य का क्षेत्र काफी हद तक बड़ा है तथा इन ग्रंथों की विषय–वस्तु भी केवल उपदेशात्मक, वार्तात्मक एवं साम्प्रदायिकता के बंधन में बंधी हुई नहीं रही है। इसमें वर्तमान काल तक आते–आते बहुत नवीनता तथा स्वछन्दता भी आई है। फिर भी हम इसकी भाषा को पूर्णतः परिष्कृत एवं परिमार्जित नहीं मान सकते। इसकी शैली में नीरसता झलकती है। इसी कारण यह अनुपयोगी भी सिद्ध होती गईं और यही कारण

रहा कि इतने समय तक ब्रजभाषा गद्य का प्रचलन रहने पर भी खड़ी बोली का जन्म हुआ तथा अल्प समय में ही इसका इतनी तेजी के साथ विकास संभव हुआ। इस प्रकार हिन्दी गद्य का जो आरम्भ 10वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक चला, वह खड़ी बोली गद्य साहित्य की पूर्व परम्परा में रहा। इसका अपना कोई विशेष साहित्यिक स्वरूप स्थापित नहीं हुआ। इसकी भाषा के स्तर पर, शैली के स्तर तथा विषय–वस्तु के स्तर पर भी कमियाँ रहीं हैं। अतः साहित्यिक गद्य का जो सन्तोषजनक एवं परिष्कृत व परिमार्जित विकास हुआ वह 19वीं शताब्दी से अर्थात् भारतेन्दु युग से आरम्भ होता है। वह भी खड़ी बोली हिन्दी भाषा के रूप में।

संदर्भ–

1. शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, आठवाँ संस्करण : 2012, पृ.सं.–278
2. तिवारी, रामचन्द्र, हिन्दी गद्य साहित्य का विकास, संशोधित संस्करण–2014 ई. पृ.सं.–7
3. शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, आठवाँ संस्करण : 2012, पृ.सं.–278
4. टंडन, प्रेमनारायण, बीसवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी गद्य का विकास, प्रथम संस्करण–1951 ई., विद्या प्रकाशन, आगरा, पृ.सं.–28
5. शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, आँठवा संस्करण : 2012, पृ.सं.–279
6. वही, पृ.सं. 279
7. टंडन, प्रेमनारायण, बीसवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी गद्य का विकास, प्रथम संस्करण–1951 ई., विद्या प्रकाशन, आगरा, पृ.सं.–32
8. वही, पृ.सं. 33
9. वही, पृ.सं. 33
10. शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, आठवाँ संस्करण : 2012, पृ.सं.–279
11. वही, पृ.सं. 280
12. तिवारी, रामचन्द्र, हिन्दी गद्य साहित्य का विकास, संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करणः 2014 ई. विश्वविद्यालय प्रकाशन पृ.सं.–11

ब्रज की कृषि एवं वर्षा विषयक लोक कहावतें और विज्ञान

–हरि मोहन

मैं अपनी बात एक किस्से से शुरू करूँगा।

किस्सा यह है कि एक बार एक अंग्रेज अधिकारी अपनी मैम के साथ ग्रामीण अंचल में दौरे पर जा रहे थे। आप जानते ही हैं कि उस समय आवागमन के साधन इतने नहीं थे। इसलिए अफसर जब दौरे पर निकलते थे, तो उनका बोरिया बिस्तर उनके साथ चलने वाले सेवक लेकर चलते थे और जिस गाँव में शाम हो जाती थी, अफसर का रात्रि विश्राम उसी गाँव में होता था। तो ऐसे ही दौरे पर वो अफसर निकले थे। चलते–चलते एक गाँव की सीमा पर पहुँचे। मैम साहिबा ने देखा गाँव की एक लगभग वृद्ध स्त्री खेत में घास काट रही है। मैम ने उत्सुकता से उसे काम करते देखा और काफिला थोड़ी देर रुकवाकर वृद्धा के काम को देखने लगीं। थोड़ी ही देर में गाँव की उस वृद्धा ने घास काटने का काम रोक दिया और थोड़ी–सी घास के गठ्ठर को उठाकर चलने लगी। अंग्रेज मैम ने दुभाषिये के माध्यम से वृद्धा से पुछवाया कि अभी समय बहुत है, घास भी कम है, तुम और भी घास काट सकती हो अभी से काम क्यों रोक लिया ? वृद्धा ने कहा कि बारिश होने वाली है। इसलिए घर जल्दी पहुँचना है। शाम अभी बहुत नहीं उतरी थी। धूप थी। बादल भी नहीं थे। खैर! अफसर का काफिला गाँव के मुखिया जी के द्वारा की गई रात्रि विश्राम की व्यवस्था के स्थल तक पहुँचा ही था कि गहरे बादल घिर आए और झमाझम बारिश शुरू हो गई। अँग्रेज दम्पति को बहुत आश्चर्य हुआ। बारिश के कोई लक्षण दिखाई नहीं दे रहे थे, धूप थी, बादल नहीं थे, हवा में भी कोई खास परिवर्तन महसूस नहीं हो रहा था फिर उस वृद्धा ने कैसे जान लिया कि बारिश होने वाली है? थोड़ी देर बाद उस वृद्धा को बुलाया गया। उससे पूछा गया तो उसने बताया कि जब मैं घास काट रही थी तो मेरा ध्यान गया कि चीटियाँ अपने बिलों से अंडे लेकर निकल रही हैं और जहाँ आप बैठी थीं, उससे कुछ ही दूरी पर एक चिड़िया धूल में नहा रही थी। मैंने जान लिया वर्षा आने वाली है।

तो इस किस्से में कितनी सत्यता है, पता नहीं। मेरे गाँव के लोग बताते थे और एक ताऊ जी अपनी बातों में कई बार कुछ कहावतों का प्रयोग किया करते थे। उन्हीं से उस वृद्धा के सूक्ष्म निरीक्षण संबंधी यह कहावत भी सुनने को मिली थी–

चींटी लै अंडा चलै, चिड़िया न्हावैधूर।
घाघ कहै सुन भड्डरी, तौ बरखा भरपूर॥

जो आधुनिकता से तनिक दूर हैं, ऐसे बहुत से गाँवों में अभी भी कभी–कभी ऐसी कहावतें सुनने को मिल सकती हैं। लेकिन अफसोस है कि ये विलुप्त होती चली गई हैं। अध्ययन बताते हैं कि न केवल ब्रज क्षेत्र में ही नहीं बल्कि समूचे उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, मध्य प्रदेश और गुजरात–महाराष्ट्र आदि प्रदेशों तक ऐसी कहावतों का प्रचलन थोड़े–बहुत अंतर के साथ रहा है। इन लोक कहावतों में प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का दीर्घ कालीन अनुभव सूत्र रूप में समाहित है। ये कहावतें लम्बे समय से ग्रामीण समाज का दिशा निर्देशन करती चली आ रही हैं।

इन कहावतों में, विशेष रूप से कृषि और मौसम संबंधी कहावतों में घाघ और भड्डरी का नाम बार–बार आता है। ये दोनों बहुश्रुत लोक कवि माने जाते हैं। जिस प्रकार एक क्षेत्र के ग्राम्य समाज में ईसुरी अपने 'फाग' के लिए, बिसराम अपने 'बिरहों' के लिए प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार ये दोनों अपनी कहावतों के लिए दूर–दूर तक विख्यात हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में इनका उल्लेख है, किंतु शिष्ट साहित्य के संदर्भ में नहीं; फुटकर कवि के रूप में। सच तो ये है कि ये 'लोक ऋषि' थे। इनकी चिंताएँ लोक कल्याण की थीं। इसलिए उन्होंने लोक जीवन के कृषि, मौसम, स्वास्थ्य, पशुओं की पहचान और सामाजिकता जैसे तमाम पक्षों पर दिशा–निर्देश देने वाले सूत्र–वाक्य कहे, जो आगे चलकर कहावतें बन गये; जिनसे उनका नाम विश्वसनीयता के लिए अथवा उनके सम्मान के लिए जुड़ गया। आज के समय में मौसम की भविष्यवाणी रेडियो, टेलीविजन, इंटरनेट या मोबाइल पर मिल जाती है, लेकिन जब ये साधन नहीं थे ऐसे समय में ये कहावतें खेतिहर समाज का पथ प्रदर्शन पीढ़ी–दर–पीढ़ी करती रही हैं।

हम बात करते हैं कृषि और वर्षा विषयक कहावतों की।

लोक कहावतों का अधिकांश कृषि विषयक है। इसका कारण है कि हमारे देश में कृषि की ही प्रधानता रही है। कृषि मनुष्य–समाज के समस्त सुखों की जननी है। इसलिए कहा गया है–

अवस्त्रत्वंनिरन्नत्वंकृषितोनैवजायते।
अनातिथ्यश्चदु:खित्वंदुर्मनो नकदाचन॥

(अर्थात् खेती करने वाले को वस्त्र और अन्न का कभी कष्ट नहीं होता। अतिथि सेवा में असमर्थता और अन्य दु:खों से उसके मन को कभी खेद नहीं होता।)

तथा–

अन्नतुंधान्यंसंभूतंधान्यंकृष्या बिना न च।

तस्मात्सर्वंपरित्यज्य कृषि यत्रेनकारयेत॥

(अर्थात् भोजन अन्न से बनता है, अन्न खेती के बिना नहीं होता; अतएव दूसरे सब काम छोड़कर सबसे पहले खेती करनी चाहिए।)

हमारा लोक इसे ऐसे कहता है–

उत्तम खेती मध्यम बान।

निषिद चाकरी भीख निदान॥

खेती करना सर्वोत्तम है, व्यापार मध्यम; नौकरी करना "निखिद्द" अर्थात् बहुत अच्छा नहीं और भीख माँगना तो बिल्कुल ही बुरा–निंदनीय कर्म है।

कृषि कार्य श्रम के महत्त्व को सम्मान देता है। इसमें 'प्रोडक्टिविटी' है। समाज के कल्याण की भावना है। इसलिए सर्वोपरि है। हमारे यहाँ समाज–व्यवस्था में ऐसी दृष्टि रही है।

कृषि कहावतों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है–

वर्ग–1. कृषि–नीति विषयक कहावतें; इनके भी दो उपवर्ग हैं–(अ) कृषि कार्य का महत्त्व और अच्छे किसान के गुण बताने वाली कहावतें; (ब) पशु पालन नीति संबंधी कहावतें।

वर्ग–2. कृषि कार्य के संबंध में सामान्य बातों की जानकारी देने वाली कहावतें : इनके भी तीन उपवर्ग हैं–(अ) भूमि की तैयारी, जुताई, सिंचाई आदि संबंधी, (ब) खाद की जानकारी, (स) कृषि और वातावरण।

वर्ग–3. विभिन्न फसलों के लिए आवश्यक कृषि वैज्ञानिक जानकारी संबंधी कहावतें।

वर्ग–4. पशुओं की अच्छी–बुरी नस्लों की जानकारी देने वाली कहावतें।

इन कहावतों का विस्तार बहुत है, इसलिए कुछ ही उदाहरणों की चर्चा की जा सकती है।

कृषि नीति की अनेक कहावतों में से एक कहावत है–

भुइयाँ ग्वैंड़े हर होय चार। घर होय गिहथिन गऊ दुधार॥

अरहर की दाल जड़हन कौ भात। गागलनीबू और घिउ तात॥

सह रस–खण्ड दही जो होय। बाँके नैन परोसैजोय॥

कहै घाघ तब सबहीं झूठा। उहाँ छांड़ि इंहवै बैकुंठा॥

(गाँव के पास खेत हों, चार हल चलते हों, घर में घर गृहस्थी के कामों में दक्ष स्त्री हो, दूध देने वाली गाय हो, अरहर की दाल और जड़हन का भात, उसके साथ रस से भरपूर नींबू और गरम–गरम घी, खाण्ड के साथ दही तथा ऐसे स्वादिष्ट भोजन को परोसने वाली सुंदर स्त्री जिस घर में हो; घाघ कहते हैं, इसके चलते सब झूठा है, स्वर्ग तो यहीं है।)

कितनी सुंदर व्याख्या है स्वर्ग की। कितना सात्विक और संतोषप्रद है जीवन!

कृषि–नीति से जुड़ी एक कहावत ऐसी है जो पशु पालन नीति ही नहीं; समुचित और सूझबूझ भरा कार्य करने की व्याख्या भी करती है–

भैंसा बरद की खेती करै, करजा काढ़ि बिरानौ खाय।
बधिया ऐंचत है यहरी कौं, भैंसा ओहरी को लै जाय॥

(अर्थात् भैंसा और बैल को हल के साथ–साथ जोत कर खेती करना, दूसरों से ऋण लेकर खाने के बराबर है; क्योंकि बधिया/बैल एक ओर खींचेगा और भैंसा दूसरी ओर (धूप में छाँह की ओर) भागेगा। आषाढ़–सावन में भैंसे को पानी से भरा खेत पसंद आयेगा और बैल दूसरी ओर जहाँ सूखी जमीन होगी वहाँ जायेगा।)

इसी तरह खेती की सामान्य और व्यावहारिक बातें कई कहावतों में सुझाई गईं हैं। यथा–

कच्चा खेत न जोतै कोई। नाहीं बीज अँकुरै कोई॥
जितना गहिरा जोतै खेत। बीज परै फल अच्छा देत॥

खेत की अच्छी तरह और गहरी जुताई, के साथ देसी खादय कहें कम्पोस्ट खाद के उपयोग को भी कहावतों में समझाया गया है। **"खाद पड़ै तो खेत। नहीं तौ कूड़ा रेत॥"**–जैसी सरल अभिव्यक्ति के साथ कई कहावतों में अच्छी खाद की ओर दिशा–निर्देश है। यथा–**"गोबर मैला नीम की खली। इनसे खेती दूनी फली।"** या–**"गोबर मैला पाती सड़ै। तब खेती में दाना पड़ै॥"** अथवा **"वही किसानी में है पूरा। जो छोड़ै हड्डी का चूरा॥"**

कृषि विज्ञान के जानकार जानते हैं कि इस तरह की खाद का कितना महत्त्व है।

कई कहावतों में कृषि कार्य और पर्यावरण के संबंध की अच्छी चर्चा है। यथा–**"साँवाँ साठी साठ दिना। जब पानी बरसे रात दिना॥"** कोई भी किसान जानता है अधिक पानी मिले तो सांवां और धान की फसल साठ दिनों में तैयार हो जाती है। इसी तरह–**"चित्रा गेहूँ अद्रा धान। न उनके गेरुई न उनके घाम॥"** अर्थात् चित्रा नक्षत्र में (जो लगभग प्रायः 10 से 20 अक्टूबर के बीच पड़ता है) गेहूँ और आर्द्रा नक्षत्र में (जो

लगभग 20-25 जून के मध्य पड़ता है) धान बोने से गेहूँ में गेरुई नहीं लगती और धान की फसल को धूप नुकसान नहीं पहुँचाती। सम्भवतः यह समय इसलिए निर्धारित किया गया है, कि इन फसलों को तैयार होने का समय ऐसा होगा; कि इसके बाद वातावरण में फसलों को हानि पहुँचाने वाले जीवाणु पनपने लगते हैं। ऐसी ही एक और कहावत है—**"हस्त न बजरी चित्र न चना। स्वाती न गेहूँ बिसाख न घना।"** अर्थात् हस्त नखत्र में (प्रायः 22 से 27 सितम्बर के आसपास) बाजरा; चित्रा नक्षत्र में (8 से 13 अक्टूबर के आसपास) चना, और स्वाति नक्षत्र में (22 से 27 अक्टूबर के आसपास) गेहूँ; तथा विशाखा नक्षत्र (6 से 11 नवम्बर के आसपास) में धान नहीं बोना चाहिए। ऐसा वातावरण की अनुकूलता न होने के कारण कहा गया है। क्योंकि ऐसा करने पर फसल बहुत कम होगी।

इसी क्रम में हम विभिन्न फसलों के लिए आवश्यक कृषि की वैज्ञानिक जानकारी देने वाली कुछ कहावतों की चर्चा करेंगे। ऐसी अनेक कहावतें हैं जिनमें गेहूँ, धान, ईख, कपास, चना, बाजरा, जौ, मक्का, तिलहन, कोदों आदि फसलों के बीज बोने का उचित समय, बीज की उचित मात्रा, उपयुक्त मिट्टी और उसकी तैयारी, सिंचाई, रोग आदि की जानकारी सूत्रबद्ध है। यह समस्त ज्ञान किसानों को अनुभव से ही हुआ है। यद्यपि आधुनिक युग में कृषि विज्ञान के क्षेत्र में बहुत प्रगति हो चुकी है। बीजों की नई–नई किस्में आ गई हैं। फसलों के रोग पहचान कर कीटनाशक बन चुके हैं। उपज बढ़ाने के लिए परम्परागत खाद के स्थान पर नई–नई रासायनिक खादें आ गई हैं। वातावरण बदल चुका है। किंतु अध्ययन बताते हैं कि इनका मनुष्य के स्वास्थ्य पर हानिकारिक प्रभाव बहुत अधिक पड़ रहा है। अनुसंधान बताते हैं कि जिन इलाकों में खेतों में लम्बे समय से रसायनों का प्रयोग किया गया, वहाँ कैंसर जैसी जानलेवा बीमारियाँ बढ़ी हुई पाई गई हैं। जमीन की उर्वरा शक्ति का ह्रास हो गया है। अतः इनके प्रयोग पर पाबंदी लगाई जा रही है। अब हम ऑर्गेनिक खेती की ओर लौट रहे हैं। जो 'अहिंसक' खेती है। ऐसे में ये कहावतें अत्यंत उपयोगी सिद्ध होंगी।

बहुत नहीं एक ही कहावत देख लें, जो बुबाई के लिए बीज की मात्रा का निर्देश देती है—

जौ गेहूँ बोवै पाँच पसेर। मटर क बीघा तीसै सेर॥
बोवै चना पसेरी तीन। तिन सेर बीघा जोन्हरीकीन्ह॥
दो सेर मोथी अरहर मास। डेढ़ सेर बीघा बीज कपास॥
पाँच पसेरी बिगहा धान। तीन पसेरी जड़हन मान॥

सवा सेर बीघा साँवाँ मान। तिल्ली सरसों अँजुरी जान॥
बर्रकोदों सेर बोवाओ। डेढ़ सेर बीघा तीसीनाओ॥
डेढ़ सेर बजरा बजरी सँवाँ। कोदों कांकुनि सवैया बवा॥
यहि विधि से जब बोवै किसान। दूने लाभ को खेती जान॥

यह लम्बी कहावत है। बल्कि कहावतों का गुच्छ है। जहाँ निश्चित माप तौल नहीं है, वहाँ अँजुरी (पस) से 'तौल' बताई गई है। तदनुसार–जौ–गेहूँ प्रति बीघा पच्चीस सेर (आज भी पुराने लोग किलोग्राम नहीं प्रायः 'सेर' का इस्तेमाल करते हैं।), मटर तीस सेर, चना पंद्रह सेर, मक्का तीन सेर; अरहर, मैथी और उड़द दो–दो सेर, कपास डेढ़ सेर, साँवा–सवा सेर; तिली और सरसों अँजुरी भर, कोदों एक सेर, अलसी डेढ़ सेर, बाजरा, बजरी और साँवा मिलाकर डेढ़ सेर, कोदों और काँकुनि मिलाकर सवा सेर बीज बोना चाहिए।

और एक कहावत तो ब्रज के किसान में खूब प्रचलित है–**"गाजर गंजी मूरी, तीनों बोवै दूरी।"** और–**"कदम–कदम पर बाजरा, मेंढक कुदनी जुवार।"** एक–एक कदम के अंतर पर बाजरा और मेंढक की छलांग जितनी दूरी पर ज्वार बोना चाहिए।

कृषि की चर्चा हो और बैलों की चर्चा न हो, ऐसा कैसे सम्भव है।

खेती का आधार हल–बैल हैं। किसान के दिन–रात के साथी। हममें से बहुतों को ध्यान होगा कि हमारे–आपके गाँवों में या आसपास के किसी गाँव में ऐसे गुणी व्यक्ति रहते थे; या रहे होंगे और हो सकता है कि आज भी हों; जो पशुओं की अच्छी–बुरी नस्लों के बारे में "विशेषज्ञ" हों! मुझे याद है मेरे गाँव में एक सज्जन इस 'विद्या' के गहरे जानकार थे। गाँव के ही नहीं; कभी–कभी आसपास के गाँवों के लोग भी जब बैल खरीदने जाते थे, तो या तो उनको साथ ले जाते थे, या उनकी राय ले लेते थे। अनुभवी थे। उनके पास कई कहावतें थीं, जो उनको सम्मानित किए हुए थीं। ऐसी कुछ कहावतें देखें–

"सींग मुड़े माथा उठा, मुँह का होवै गोल।
रोम चरम चंचल करन, तेज बैल अनमोल॥"

(अर्थात् जिस बैल के सींग मुड़े हुए हों, माथा उठा हुआ हो और जो गोल मुँह का हो, जिसके रोम मुलायम हों और कान चंचल हों–ऐसे लक्षणों वाला बैल चलने में तेज होता है और अमूल्य है।)

ऐसी कई कहावतें हैं जिनमें छोटे सींग, गोल मुँह, छोटी पूँछ, कजरी आँखें, गुच्छेदार पूंछ, झबरे और ऐंठे हुए कान, पतली पेंडुरी (घुटने के नीचे का मांसल हिस्सा) और मोटी जंघाएँ आदि शारीरिक लक्षणों वाले बैलों को श्रेष्ठ बताया गया है।

अब वर्षा विषयक लोक कहावतों की चर्चा कर ली जाये। ये कहावतें अद्‌भुत् हैं और प्राचीन ज्ञान की द्‌योतक हैं जो आज के विज्ञान को चुनौती देती प्रतीत होती हैं।

वर्षा विषयक कहावतों की मुख्यतः तीन श्रेणियाँ हैं–

एक, वर्षा–विचार विषयक, जिनमें महीनों तथा नक्षत्रों पर विचार करते हुए वर्षा के होने न होने की चर्चा है;

दो, वर्षा के पूर्वानुमान की कहावतें, जिनमें चार आधार देखे गये हैं– (1) वातावरण, (2) मास, तिथि विशेष की वर्षा, (3) नक्षत्र और राशियाँ, (4) जीव–जंतुओं के क्रियाकलाप।

तीसरी श्रेणी में अन्य बातें हैं, जैसे–अकाल–सुकाल और ज्योतिषीय गणना आदि।

वर्षा का पूर्वानुमान बहुत ही दिलचस्प विषय है। व्यापक भी। यह संस्कृत में प्राप्त भारतीय ज्ञान के परम्परा का एक प्रकार से 'लोकानुवाद' है। इस में निहित बहुत से सूत्र आधुनिक विज्ञान को भी चुनौती देते प्रतीत होते हैं। पहले कुछ कहावतों की चर्चा। तब उनके समानांतर ज्ञान–विज्ञान की।

1. मघा के बरसैं, माता के परसैं। भूखा न माँगे, फिर कछु हर से॥
2. आवत आदर ना दियो, जात न दीनौं हस्त। ये दोनों पछताइंगे, पाहनु और गिरहस्त॥
3. जो कहुँ माघा बरसे जल। सब नाजों में होगा फल॥
4. मघा भूमि अघा।
5. हथिया बरसै, चित्रा मँडराय। घर बैठैं किसान हरसाय॥
6. धनि वह राजा धनि वह देस। जहँवा बरसै अगहन सेस॥
7. अगहन बरसै हून पूस दून। माघ सवाई, फागुन मूल गँवाई॥
8. पानी बरसैआधे पूस। आधा गेहूँ आधा भूस॥
9. अगहन में सरवा भर। फिर करवा भर॥
10. सावन सूखा स्यारी। भादों सूखा उन्हारी॥
11. भूरी हथिनी चंदुलि जोय। पूस महावट बिरलै होय॥

कृषि के परिप्रेक्ष्य में इन कहावतों के तथ्यात्मक निष्कर्ष चार हैं–

1. अगहन (मार्गशीर्ष) की वर्षा अच्छी (लाभदायक) होती है।
2. पौष की वर्षा बहुत अच्छी होती है (दो गुनी पैदावार देती है)।

3. माघ में यदि वर्षा हो तो बहुत अच्छा रहता है, भूमि की तृप्ति हो जाती है, अतः फसल अच्छी होती है।

4. फाल्गुन में वर्षा अच्छी नहीं होती।

साधारण अर्थ में तो यही दिखाई देता है कि अगहन, पौष, श्रावण आदि की ही वर्षा कृषि के लिए अच्छी होती है किन्तु हमारा विचार है कि इनका विचार प्राचीन भारत में प्रचलित "गुरुवर्ष ज्ञान" सिद्धांत के परिप्रएक्ष्य में इन कहावतों को देखा जाना चाहिए।

क्या है "गुरुवर्ष–ज्ञान" सिद्धांत ? भारतीय ऋतु विज्ञान में माना गया है कि जिस आकाशीय नक्षत्र मण्डल में बृहस्पति उदय होता है, उस नक्षत्र के अनुसार ही उस वर्ष का नाम निर्धारित होता है, और चंद्रमा जिस नक्षत्र में उदय होता है, उस नक्षत्र के अनुसार उस मास का नाम रखा जाता है। (नक्षत्रैणसहोदयमुपगच्छतियेनदेवपति मंत्री। तत्सांकवक्तव्यं वर्ष मासंक्रमेणैव॥) कृतिका आदि दो नक्षत्रों का क्रमशः कार्तिक आदि वर्ष होता है, किंतु पाँचवाँ, ग्यारहवाँ और बारहवाँ वर्ष तीन–तीन नक्षत्रों में होते हैं, अर्थात्–

1. बृहस्पति कृतिका, रोहिणी में हो तो वर्ष का नाम होगा–कार्तिक।

2. वह मृगशिरा, आर्द्रा में हो तो–मार्गशीर्ष।

3. अश्लेषा, मघा में हो तो पौष। इसी क्रम में बारह नाम निर्धारित किए जाते हैं।

इन कहावतों को प्राचीन सिद्धांतों से मिलाकर देखा जा सकता है, जो संस्कृत में उपलब्ध थे। यथा–

माना गया था कि–"मार्गशीर्ष वर्ष (जब बृहस्पति मृगशिरा और आर्द्रा नक्षत्र मण्डल में उदित होता है, उस वर्ष) में वर्षा नहीं होती, मृग, चूहे, शलभ व कीटों से खेती का क्षय होगा।" (**सौम्येब्देनावृष्टिमृगाखुशल्माण्ड्जैश्चयस्यवधः॥**) लोक कहावत भी यही कहती है।

इसी तरह–"पौष वर्ष अच्छा है, इस वर्ष दो–तीन गुनी उपज होती है।" (**शुभकृज्जगतःपौषो–द्वित्रिगुणोधान्यार्थ...**)। लोक कहावत भी यही कहती है।

यह व्यापक विषय है, जिसमें 'गुरुवर्ष ज्ञान' सिद्धांत के साथ ही हमारे ऋषियों ने आर्दा प्रवेश सिद्धांत, आषाढ़ी योग सिद्धांत जैसे कई सिद्धांत दिए। इनके गहन और वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किए जाने की आवश्यकता है।

इसी तरह सद्योवृष्टि और अनावृष्टि के लक्षणों पर विचार किया गया है।

बादल, बिजली, इंद्रधनुष और पशु–पक्षियों के क्रियाकलापों के आधार पर वर्षा का पूर्वानुमान लगाने वाली कहावतें सद्योवृष्टि (24 घंटे में वर्षा) और अनावृष्टि की सूचक हैं।

(अ) बादल–बिजली वाली कुछ कहावतें देखें–

1. चमकै उत्तर पश्चिम ओर। तब जानो पानी है जोर।
2. पूरब के बादर पच्छिम जाय। पतरौ पकावै, मोटी खाय॥

(ब) इंद्रधनुष संबंधी–

1. सांझै धनुष–बिहानै पानी।
2. सांझै धनुष सकारे मोर। ये दोनों पानी के बोर।
3. धनुष पड़ै बंगाली, मेह सांझ या सकाली।
4. पूरब धनुही पश्चिचम भान। घाघ कहै बरसा नियरान।

(स) जीव–जंतुओं के क्रिया–कलाप संबंधी–

1. कलसे पानी गरम हो, चिड़िया न्हावैं धूर। अण्डालैं चींटी चलैं, तौ बरखा भरपूर॥
2. ढेले ऊपर चील जो बोलै। गली–गली में पानी डोलै॥
3. बोली गोह, फूले बन कांस। अब नाहीं बरसा की आस॥
4. ढोकी बोली जाइअकास। अब नाअहीं बरसा की आस।
5. उतरे जेठ जो बोलै दादुर। कहै भड्डरी बरसै बादर॥
6. रात में बोलै कागरा, दिन में बोलै स्यार। या होवै झरबदरी या फिर जेठ उजाड़॥
7. उल्टे गिरगिट ऊँचे चढ़ै। बरखा होय भू जल डुबै॥

(स) अन्य सिद्धांत–

1. नवधा मेघ ज्ञान–**"कारौ बादर जी डरपावै। भूरौ बादर पानी लावै।"** या फिर **"तीतर बरनी बादरी, रहै गगन पैछाय। घाघ कहै सुन भड्डरी बिन बरसै नहीं जाय॥"**
2. दशतपा (ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या के अंत में ज्येष्ठ शुक्ल दशमी के अंत तक दस दिन)–

"जेठ मास जो तपैनिरासा। तो जानो बरसा की आसा।"

अथवा–

"तपैमृगसिरजोय। तौ बरसा पूरन होय॥"

एक बहुत ही आश्चर्यजनक सिद्धांत है–"मेघ गर्भधारण सिद्धांत"। यह आधुनिक विज्ञान के लिए भी नई चीज है, जो एक चुनौती प्रस्तुत करती है। बात बहुत छोटी लगती है–

एक बूँद जो चैत में परे। सहस बूँद सावन में हरे॥

अर्थात् यदि चैत्र मास में थोड़ी–सी भी वर्षा हो गई, तो समझो श्रावण मास में बिल्कुल वर्षा नहीं होगी।

सोचिए 195 दिन पहले ही वर्षा होने न होने की भविष्यवाणी इस छोटी–सी कहावत में कैसे कर दी होगी।

इसे समझने के लिए हमें आधुनिक मौसम विज्ञान के पास नहीं, प्राचीन ऋषियों के पास जाना होगा।

बहुत पुराने समय से लोगों में यह विश्वास चला आ रहा है (जिसका ज्ञान अब शायद नहीं रहा।) कि पौष और माघ के महीने में वर्षा का गर्भ पड़ता है। जिसका प्रसव 195 दिन बाद होता है। माना जाता है कि अगहन या पौष महीने के शुक्ल पक्ष में जो गर्भधारण होता है, उसका साढ़े छह महीने बाद प्रसव होगा, उसकी संतान निर्बल होगी, अर्थात् बारिश कम होगी।

वर्षा के गर्भ के पाँच कारण बताए गए हैं–हवा, वृष्टि, बिजली, बादल और गर्जन। गर्भ के समय में जब ये सभी पाँच लक्षण उपस्थित होते हैं, तब समझो आगे चलकर बहुत अधिक वर्षा होगी।

वर्षा का भी गर्भ पड़ता है–यह आधुनिक विज्ञान के लिए सर्वथा नई बात है। लेकिन हमारे प्राचीन ग्रंथों में; विशेष रूप से–**"बृहत्संहिता"** में; विस्तारपूर्वक लिखा गया है। वराहमिहिर का यह ग्रंथ गर्ग, पाराशर, कश्यप और वात्स्य इत्यादि मुनियों ने वर्षा के जो लक्षण बताये थे; उनको आधार बनाकर लिखा गया है। इसी ग्रंथ में वर्षा के गर्भ धारण संबंधी कुछ सूत्र उपलब्ध हैं। इसका एक श्लोक उदाहरण के लिए पढ़ा जा सकता है। ये है–

मार्गशिर शुक्लपक्ष प्रतिपत्प्रभूतिक्षपाकरेषाढ़ाम्।
पूर्वावासमुपगतेगर्भाणाम् लक्षणंज्ञेयम्॥

मार्गशिर (अगहन) मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा में जिस दिन चंद्रमा पूर्वाषाढ़ नक्षत्र में होता है, उसी दिन सब गर्भों के लक्षण जान लेने चाहिए। और–

यन्नक्षत्रमुपगतेगर्भश्चंद्रेभवेत् स चंद्रवसात्।
पंचनवते दिन शतेतत्रैवप्रसवमायाति॥

अर्थात् चंद्रमा के जिस नक्षत्र में प्रवेश करने से मेघ को गर्भ होता है, चंद्रमा के वंश से 195 दिन में उस गर्भ का प्रसव होता है।

ऐसे बहुत से श्लोक हैं, किंतु समय की सीमा है। सभी का उल्लेख सम्भव नहीं है।

आधुनिक ऋतु विज्ञान में मौसम की भविष्यवाणी के लिए इन तथ्यों को आधार बनाया जाता है–

1. धरातलीय हवाओं की दिशा और वेग (Wind direction and Velocity) इसके लिए पवन दिशा सूचक (विंडवेन) तथा पवन वेग मापी (एनीमीटर) की सहायता ली जाती है।
2. बादल (मेघों की किस्म, ऊँचाई आदि) (Clouds, kind and Height) इसके लिए निरीक्षण से देखते हैं कि बादलों की ऊँचाई क्या है, तदनुसार 10,000 फीट की ऊँचाई के बादल नीचे (Low), 20,000 फीट तक के मध्यम (Medium) और इसके ऊपर की ऊँचाई के उत्तम (High) माने जाते हैं। बादलों की किस्म उनके रंग, रूप, आकार के अनुसार निश्चित की जाती है। जैसे–'निम्बस मेघ' (मैमने की तरह के बादल) आदि।
3. ताप (Temperature), जो ताप मापी से मापा जाता है।
4. नमी/आर्द्रता (Humidity)।
5. वर्षा (Rainfall)।
6. धूप की तीव्रता, जो तापलेखी (थर्मोग्राफ) से ज्ञात की जाती है।

आधुनिक मौसम विज्ञान के विपरीत लोक के पास सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति है और है दीर्घकालीन अनुभव, जो प्रकृति की प्रयोगशाला में मिला है। हम पाते हैं कि–

(अ) लोक के पास तत्कालीन परीक्षणों पर, तत्समय के 24 घण्टों के लिए मौसम की भविष्यवाणी करने के लिए सिद्धांत विद्यमान हैं।

(आ) 6 महीने आगे के मौसम/वर्षा की भविष्यवाणी करने की क्षमता है, जो आधुनिक मौसम विज्ञान के पास नहीं हैं।

(इ) वायु की दिशा और वेग तथा बादलों का अध्ययन भी आधुनिक मौसम विज्ञान से मिलता–जुलता है।

(ई) ताप और नमी मापने के साधन नहीं थे, किंतु नक्षत्र एवं तिथि विचार से यह काम सिद्ध हो जाता था। इन गणितीय सिद्धांतों का वैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए।

अब सोचकर देखें कि आधुनिक मौसम विज्ञान विभाग के पास इस कहावत का क्या उत्तर है–

फागुन सुदीजुसतमी, आठैं नौमी गंभ। देखु अमावस भादवै, पैयैमेहसुलम्भ॥

फाल्गुन शुक्ल सप्तमी, अष्टमी और नवमी को वर्षा का गर्भ पड़े (यानी बादल, वायु और बिजली आदि लक्षण हों) तो भाद्रपद की अमावस्या को वर्षा अवश्य होगी।

और यह भी—**"सुक्कर वारी बादरी, रहैसनीचरछाय। घाघ कहै सुन भड्डरी बिन बरसैनहिंजाय।"**

मैंने एक बार इंटरनेट पर इसी को लेकर मध्यप्रदेश के एक सज्जन प्रेम शंकर तिवारी जी की पोस्ट पढ़ी थी। उसमें था कि 1 जुलाई, 2016 को शुक्रवार था और जबलपुर ही नहीं पूरे मध्यप्रदेश के आसमान को बादल ढके हुए थे। शनिवार तक छाई रही बदली ने ऐसा रूप दिखाया कि मूसलाधार बारिश का क्रम शुरू हो गया।

विशेष रूप से नक्षत्रों तथा जीव–जंतुओं के क्रिया–कलाप से वर्षा के अनुमान पर हमने अपने शोधकार्य के दौरान (सन् 1975-76 में) सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक और राष्ट्रीय भूभौतिकी अनुसंधान संस्थान हैदराबाद के तत्कालीन निदेशक डॉ. हरिनारायणजी से पत्राचार किया था। उन्होंने लिखा कि यह तो विज्ञान भी स्वीकार करता है मौसम को नियंत्रित करने वाली समस्त क्रियाओं का क्षेत्र पृथ्वी के (बाहर) ऊपर 10-12 किमी तक रहता है। इन्हीं प्रक्रियाओं के फलस्वरूप बादलों का निर्माण, वायुमण्डलीय विद्युत का प्रकाशित होना, पानी गिरना आदि सम्भव होता है। वर्षा ऋतु में जलाशयों के स्तर में वृद्धि हो जाती है। भयंकर गर्मी के कारण पृथ्वी के अंदर कुछ (मीटर तक) गहराई तक ग्रीष्मकाल में तापमान बढ़ जाता है। वर्षा ऋतु में यह कम हो जाता है।

विज्ञान भी मानता है कि अनेक जीव–जंतुओं की क्रियाएँ प्राकृतिक घटनाओं के प्रति विशेष संवेदनशील रहती हैं। उन्हें प्राकृतिक आपदाओं का पूर्वाभास भी हो जाता है। उदाहरणस्वरूप भूकम्प आने के समाचार या हम भूकम्प का अनुभव करें, इसके पहले ही गाय रम्भाना या कुत्ते का भौंकना आदि आरम्भ हो जाता है। रेगिस्तान में भी ऊँट को तीव्र आँधी आने का आभास हो जाता है और वह रेत में मुँह डाल देता है। कहने का अर्थ यह है कि मौसम में होने वाले परिवर्तनों की आहट पशु–पक्षियों को पहले ही हो जाती है। इस विचार से इस तरह की कहावतों का विश्लेषण किया जा सकता है, जिनमें मेंढक, साँप, गिरगिट, चिड़ियाएँ, चींटी, चील, मोर आदि के असामान्य कार्य–कलापों के आधार पर वर्षा होने, न होने का अनुमान लगाने की बात कही जाती है।

और अंत में वर्षा ऋतु की विदाई के संकेत—

"दिन में गरमी, रात में ओस। कहै घाघ वर्षा सौ कोस॥"

यह संकेत आश्विन अथवा कार्तिक मास के लिए है। संकेत यह कि वर्षा के बादल विदाई ले चुके हैं।

ब्रज की रासलीला : पाँच शताब्दियों का सफर

—उषा यादव

ठाकुर जी (कृष्ण) और श्री जी (राधा) के क्रीड़ा–कौतुक, साहचर्य और प्रेम–माधुर्य के अलौकिक अनुभव को लोक सुलभ बनाने में आज भी ब्रज–वसुन्धरा अप्रतिम है। सहृदयों को ही क्या, आम आदमी के चित्त को भी प्रिया–श्याममय बनाने के नाना गुर इसे विदित हैं। इनमें रासलीला सर्वोपरि है। यह रासलीला कृष्ण–चरित्र की मनोरम लीलाओं के प्रदर्शन का अत्यंत प्रभावशाली माध्यम है। "आज 'रास' से लोकनाट्य के ऐसे रूप का बोध होता है, जिसमें राधा, कृष्ण, गोपियों की मंडलाकार रूप में गीति और नृत्य के साथ श्रृंगारिक क्रीड़ाएँ दिखाई जाती हैं।"[1]

'रास' की व्युत्पत्ति 'रस्' अथवा 'रास्' धातुओं से मानी गई है, जिसके अनुसार रसों का समूह ही रास है। प्रभुदयाल मीतल ने रासलीला की व्याख्या इस प्रकार की है, "आध्यात्मिक एवं धार्मिक दृष्टि से रास का अभिप्राय परब्रह्म परमात्मा के उस शाश्वत चिरन्तन नृत्य से है, जो अखिल ब्रह्मांड में अनादि काल से नित्य–निरंतर होता रहता है। इसीलिए इसे 'नित्य रास' कहते हैं। 'लीला' लौकिक अर्थ में खेल अथवा क्रीड़ा को कहते हैं। धार्मिक दृष्टि से इसका अभिप्राय परब्रह्म परमात्मा की उस दिव्यानंदमयी सरस क्रीड़ा से है, जिसे वे निज स्वरूप संभूत आह्लादिनी शक्ति के साथ सदैव किया करते हैं। लीला करना उनका स्वभाव है, जिसे वे बिना किसी हेतु अथवा प्रयोजन के किया करते हैं।"[2]

पाँच सौ वर्षों से निरंतर चली आ रही इस रासलीला को भारतीय संस्कृति का संवाहक कहना अनुचित न होगा। "हमारे देश के कलात्मक सांस्कृतिक उत्थान, प्रोत्साहन तथा रक्षण में 'रास' विधा का अद्वितीय योगदान रहा है।"[3] तभी तो प्रतिवर्ष फाल्गुन और श्रावण मास में वृंदावन का संपूर्ण रमणरेती क्षेत्र इस अद्भुत लास्य की रसभीनी फुहार और मदमाती बयार से जैसे सिहर–सा उठता है। यहाँ स्थित आश्रमों में लोकरंजनकारी लीलाओं के मंचन की बाढ़ आ जाती है। संचार माध्यमों द्वारा दी गई अस्तित्व–रक्षा की कड़ी चुनौती का रासलीला द्वारा पूरे दम–खम से सामना करना हमें अचम्भित किये बिना नहीं रहता। लोककलाओं और लोकसंस्कृति पर छाये संकट के मेघों के दौर में भी इस लोकनाट्य–कला का जीवंत बने रहना हमारे भीतर विस्मय जगाता है।

ब्रजभूमि की इस रास–परम्परा की शुरुआत सोलहवीं शताब्दी में हुई थी। इसके प्रवर्तन का श्रेय स्वामी बल्लभाचार्य एवं हितहरिवंश को है। उन्होंने पहले से चली आ रही साहित्य की नृत्य–गीत संयुक्त श्रृंगार प्रधान धारा में भक्ति की पुनर्स्थापना करके रास–रसिक शिरोमणि कृष्ण को उसका नायकत्व प्रदान किया। राधा एवं गोपियों के साथ कृष्ण की श्रृंगारपूर्ण क्रीड़ाओं से युक्त लीला ही रासलीला है। प्रथम रासलीला मंचन का श्रेय जनश्रुतियाँ स्वामी घमंडदेव को देती हैं।

इन किंवदंतियों के अनुसार आज से लगभग पाँच सौ साल पहले घमंडदेव के हाथों रास का सूत्रपात हुआ। आज भी वृंदावन में रास का मंचन करने वाले प्रायः सभी प्रमुख आश्रमों के स्वामी स्वयं को घमंडदेव का वंशज बताते हैं। उनसे जोड़कर अपनी रासलीला को प्राचीनतम सिद्ध करते हैं। कहा जाता है कि बरसाना के पास के करहला गाँव के निवासी घमंडदेव को स्वप्न में भगवान का आदेश हुआ कि ब्रजवासी ब्राह्मण बालकों को एकत्र करके भगवान की लीलाओं का प्रदर्शन करो। उन्होंने ऐसा ही किया। उनके प्रयास से मथुरा के विश्रामघाट पर पहला रास संपन्न हुआ। उसी समय आकाश से एक मुकुट उतरा और कृष्ण के स्वरूप के सिर पर शोभायमान हो गया। यह देखकर वहाँ उपस्थित जनसमूह ने हर्षध्वनि की और इस लीला–माधुरी को प्रभु की स्वीकृति मानकर शिरोधार्य किया। तब से आज तक चली आ रही है रास की परंपरा। पाँच सौ साल के इस लंबे सफर में अनेक मोड़ों पर मुड़ी है रासलीला। अनेक पड़ावों पर विश्राम किया है उसने। घाट–घाट का पानी पिया है, राह–बाट का चना–चबेना चखा है। लोक संस्कृति की कल–कल बहती यह निर्मल धारा अपना लंबा सफर तय करके वर्तमान मुकाम पर पहुँची है।

आरंभिक काल की रासलीला में आध्यात्मिकता की प्रधानता थी। यही आध्यात्मिकता तद्युगीन भक्ति साहित्य में भी थी। सूरदास व अष्टछाप के अन्य कवियों के भजन और पद ही तब रास का मूलाधार थे। संगीत और काव्य का अनूठा संगम विद्यमान था। लीलाओं के माध्यम से जनता का मनोरंजन और भक्ति–लाभ दोनों होता था। कृष्ण, राधा, गोपियों आदि के संवादों में गांभीर्य का अभाव और प्रेमालाप की प्रधानता रहती थी। घटनाएँ कम, संवाद अधिक थे। लीला के लिए प्रयुक्त होने वाले रंगमंच का स्तर भी बहुत साधारण होता था। किसी मंदिर, पवित्र स्थान अथवा ऊँचे चबूतरे पर मंच बना लिया जाता था। पर दर्शकों की भीड़ उस समय भी काफी होती थी। रास मंडलियाँ प्रायः निकटवर्ती क्षेत्रों में अपनी कला का प्रदर्शन करती थीं।

समय की प्रवहमान धारा ने रास के स्वरूप में परिवर्तन ला दिया। राजनीतिक क्षितिज पर छोटे–छोटे हिंदू राजाओं का पराभव हुआ। मुसलमान भारत के अधिपति बने और सुरा–सुंदरी के सम्मोहन–जाल में बंध गये। 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार लोकरुचि भी वैभव–विलास की ओर उन्मुख हो गई। आध्यात्मिकता के प्रति लोगों की अभिरुचि न रही। साहित्य के इतिहास में भक्तियुग का पर्यावसान होने पर उद्दाम श्रृंगारी वृत्तियों से ओतप्रोत सत्रहवीं शताब्दी का रीतियुग कला के संसार में भी बदलाव लाया। स्थापत्य के क्षेत्र में पच्चीकारी, महीन कारीगरी और नक्काशी का प्रतिफलन संसार प्रसिद्ध स्मारक ताजमहल के रूप में सामने आया। साहित्य के क्षेत्र में बिहारी सतसई तथा अन्य रीति ग्रंथों में राधा–कृष्ण को सामान्य नायक–नायिका बना दिया गया। परिवर्तन की इस लहर से रास भी अछूता न रहा। उसकी धार्मिकता, रसप्रवणता और संगीतमयता को धक्का पहुँचा। अब उसमें न पहले जैसी औदात्य की भावभूमि रही और न संगीत की शास्त्रीयता। मात्र नृत्य, वाग्विलास, उक्ति वैचित्र्य की प्रधानता हो गई। कृष्ण और राधा लटके–झटके दिखाने वाले, चुटीले वचन बोलने वाले, चुलबुले नायक–नायिका बन गये। यह लोकरुचि लगभग दो शताब्दियों तक कला के संसार में हावी रही।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतेंदु हरिश्चंद्र की 'श्री चंद्रावली नाटिका' और उसके बाद वियोगी हरि की 'छद्मयोगिनी की नाटिका' एक बार फिर बदलाव की लहर से अनुप्राणित दिखाई दीं। बीसवीं शताब्दी में रास भी पुनः आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख हुआ और राधा–कृष्ण के स्वरूप भक्ति–रस के आश्रय के रूप में सामने आये। पर रासलीला का स्तर आज से पचास वर्ष पूर्व तक सामान्य बना रहा। वही सामान्य कोटि का मंच। वही मंदिरों, चबूतरों अथवा तख्तों पर बांस और कपड़े से बनाये मंच पर अभिनीत होती लीला। मुक्त आकाश के नीचे दूर तक फैली खुली धरती ही दर्शकों का प्रेक्षागृह होती थी। कभी–कभी चंदोबा भी तान दिया जाता था। वास्तविक लीला प्रारंभ होने से पूर्व दर्शकों के मनोरंजन के लिए ढोलक–मंजीरा, हारमोनियम तथा सितार के साथ भजन गाये जाते थे।

लीला शुरू होने से पहले सूत्रधार रूप में एक व्यक्ति आकर उस दिन दिखाई जाने वाली लीला के विषय में सूचना देता था। इसके बाद परदा उठने पर राधा–कृष्ण की युगल छवि की आरती होती थी। इस अवधि में सामने बैठे प्रेक्षक उठकर खड़े हो जाते थे। हास्य की सृष्टि के लिए 'मनसुखा' नामक पात्र की योजना की जाती थी।

पात्रों को यदि मंच पर आने में विलम्ब हुआ, तो दर्शकों का समय काटने के लिए एक छोटे से प्रहसन की योजना कर दी जाती थी। रास कार्य संपन्न कराने वाले व्यक्ति को 'रासधारी' कहते थे। वही पात्रों के मंच से प्रस्थान के बाद सामने आकर दृश्य–परिवर्तन की सूचना देता था। लीला में हास्य का पुट और श्रृंगार का प्राधान्य रहता था। कृष्ण का सखियों व गोपियों के साथ अनुरागपूर्ण वृत्ताकार नृत्य होता था, जो मूल रासलीला थी। कृष्ण का गोपियों के हाथों में हाथ देकर नाचना, कभी मंडलाकार खड़ी गोपियों के मध्य में जाकर नाचना आदि नाना रूपों में नृत्य का विधान किया जाता था। इन लीलाओं का कथ्य प्रायः राधा–कृष्ण की प्रेम–क्रीड़ाएँ होती थीं। अभिनेता यदि अपना संवाद भूल जाये, तो परदे के पीछे बैठा निर्देशक उसे संवाद की पंक्तियाँ याद दिलाता था। लीला में अभिनय की अपेक्षा संवाद अधिक होते थे। अंत में युगल छवि की पुनः आरती होती थी। इस आरती में प्रेक्षक भी शामिल होते थे और आरती के थाल में रूपये–पैसे की भेंट चढ़ाते थे। तदुपरांत लीला के विषय में मंगलकामना के साथ रासलीला का समापन होता था।

बात अब समकालीन रासलीला की।

वर्तमान युग की रासलीला में बाह्य आडम्बर, भव्यता और प्रदर्शन की प्रवृत्ति पहुँच गई है जिसका विगत पाँच सौ वर्षों से लीला–मंचन के दौरान सर्वथा अभाव था। फूलों की साज–सज्जा, झिलमिलाती विद्युत्–द्युति और राधा–कृष्ण के स्वरूपों की वेशभूषा में सज्जा एवं अलंकरण का प्राधान्य। श्याम का जरी–गोटे–कलाबत्तू से कढ़ा रेशमी परिधान। तन पर अंगरखा, धोती। सिर पर मोरमुकुट, हाथ में बांसुरी। श्री राधा के शरीर पर सुशोभित लहंगा–चोली–ओढ़नी। आकर्षक साज–सज्जा। स्वरूपों के बहिरंग को सज्जित करने की ऐसी परिपाटी पचास साल पहले न थी। निश्चय ही अब रासलीला में ऊपरी चमक–दमक और सजावट बहुत बढ़ गई है। गीत–संगीत–अभिनय की त्रिवेणी में भक्तिकाल और रीतिकाल की कविता–माधुरी के साथ लोकगीतों की सरस झांकी भी है। स्वनिर्मित नये पदों और गीतों की योजना ने रास में नयापन लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। नृत्य–संगीत में शास्त्रीयता का अभाव होने पर भी लय और लोकरुचि का ध्यान रखा गया है। अश्लीलता कहीं नहीं है। न द्विअर्थी गीत हैं, न नृत्य–अभिनय–संवाद में किसी किस्म का फूहड़पन है। निश्चय ही यह आज की रासलीला का सुखद और स्पृहणीय पक्ष है।

ब्रज की रासलीला की चिरजीवन्तता का रहस्य यही है कि चिर पुरातन होते हुए

भी उसमें नित्य नवीन बने रहने की साध विद्यमान है। इलैक्ट्रानिक मीडिया से भय खाने के बजाय स्वयं आगे बढ़कर उससे गलबहियाँ डालकर खड़ी हो गई है। ध्वनि और प्रकाश के अपूर्व संयोजन ने समकालीन रासलीला को एक अतीन्द्रिय और वायवी संस्पर्श प्रदान कर दिया है। दूसरी बात, पहले यह केवल कृष्ण–चरित्र के लीला प्रसंगों तक ही सीमित थी। अब अपना क्षेत्र–विस्तार करके यह रामलीला, गौरांगलीला, भर्तृहरि लीला, शंकर लीला, नरहरि लीला, गजग्राह लीला तथा अन्यान्य लीलाओं तक पहुँच गई है।

रासलीला के प्रति बढ़ते आकर्षण के और भी कारण हैं।

पहले यह लीला इने–गिने स्वामियों के प्रभुत्व तले पनपती थी। उन्हें भी यह गद्दी वंशानुगत रूप में प्राप्त होती थी। किंतु जैसे–जैसे जागरुकता बढ़ी, लोगों में चेतना आई, उन्होंने अपने अलग–अलग आश्रम बनाकर नई–नई मंडलियाँ तैयार करना शुरू कर दिया। इस संख्या–वृद्धि से लीला के स्तर में गिरावट भी आई है। कारण यह है कि इन स्वयंभू स्वामियों में सच्ची भावना, गांभीर्य और दायित्व–बोध की अपेक्षा पैसा कमाने की प्रवृत्ति अधिक है। व्यवसायिकता के हस्तक्षेप ने इसके स्वामियों में नवधनाढ्य होने की चाह भर दी है। यह अर्थोन्मुखदृष्टि कला के विकास के लिए कितनी घातक है, कहने की आवश्यकता नहीं। वृंदावन के अधिकांश आश्रमों में श्रावण मास की हरियाली तीज से आरंभ होकर लगभग एक माह चलने वाली लीला का पूर्णिमा पर समापन हो जाता है। कुछ स्थानों पर जन्माष्टमी तक व इनी–गिनी जगह राधाष्टमी तक यह संपन्न होती हैं। इसके बाद ये रास मंडलियाँ देश के विभिन्न भागों में और देश की सीमाएँ पार करके विदेशों तक अपनी कला का मंचन किया करती हैं।

एक ओर आश्रम स्वामियों का मुँह में सोने की चम्मच लेकर जन्म लेना और दूसरी ओर उनके यहाँ के कलाकारों का कालान्तर में दुरावस्था झेलना ब्रज की रासलीला का विरोधाभासी दृश्य है। आस–पास के ग्रामीण अंचल के ब्राह्मण बालक ही जीविकोपार्जन के लिए पाँच–छः वर्ष की छोटी–सी आयु में इन लीलाओं से जुड़ जाते हैं। युवावस्था आते ही उन पर दुर्दिन का पहाड़ टूट पड़ता है। स्त्री पात्रों का अभिनय भी चूँकि लड़के ही करते हैं, अतः दाढ़ी–मूंछ निकलने पर उन्हें 'स्वरूप' बनने के नाम पर 'अनफिट' करार दिया जाता है। उस समय उनके हाथ में अधिक विकल्प नहीं रहते। न तो समय रहते पढ़ाई–लिखाई की, न कोई हस्तशिल्प सीखा। अब क्या करें बेचारे? गाँव में खेती–किसानी करने, शहर में मजदूरी तलाशने अथवा मंदिरों के

सामने भीख का कटोरा लेकर बैठने के लिए बाध्य होते हैं। जो लोग सावधान, समझदार और कुछ मजबूत आर्थिक स्थिति वाले हुए, वे स्वामी बनकर निजी मंडली बना लेते हैं। ईश्वर का दिया मधुर कंठ मिला हो, तो भागवत प्रवचन की दिशा में निकल पड़ते हैं। वृन्दावन के मूर्धन्य कथावाचक कृष्णचन्द्र ठाकुर पहले रासलीला में कृष्ण का स्वरूप बनते थे, बाद में विश्व के मूर्धन्य भागवत वाचकों में एक बने। चूँकि स्वरूप बनने वाले ये बालक गरीब घरों के होते हुए भी रूप–रंग के धनी होते हैं, अतः युवावस्था आने पर बड़ी–बड़ी हवेलियों की भेंट भी चढ़ जाते हैं। रसिक स्वामियों का दिल बहलाव इनका लक्ष्य रहता है, कुछ बनने का स्वप्न कभी साकार नहीं हो पाता। इसीलिए ब्रज में यह कहावत प्रचलित है—'ताँगे का घोड़ा, रासलीला का मोड़ा, किसी काम के नहीं रहते।'

पहले रासलीला में सूर तथा अष्टछाप के अन्य कवियों के पदों पर आधृत लीलाएँ ही दृष्टिगोचर होती थीं। कालान्तर में ब्रज के कवियों ने अपने मौलिक पदों की रचना आरम्भ कर दी। स्वामी मेघश्याम, स्वामी प्रेमानन्द बाबा आदि ऐसे नाम हैं, जिन्होंने अपने हाथ से नई–नई लीलाएँ लिखकर लोगों को दीं।

आज का रास मंच बहुत व्यय–साध्य नाट्य रूप हो गया है। अष्टयाम सेवा लीला को रासलीला की बहुत महँगी तथा निगूढ़तम भावमयी लीला माना गया है। इसमें भगवान श्रीकृष्ण, राधारानी एवं बलराम जी की दिन–रात की जीवनचर्या का वर्णन रहता है। यह लीला इतनी खर्चीली है कि इसके एक दिन के प्रदर्शन में करीब एक लाख रुपये की लागत आती है। नव्यता लाने के लिए आज के रास मंच में प्रवचन शैली भी जोड़ दी गई है।

ब्रज की रासलीला की सतत जीवंतता का एक प्रमुख कारण यह है कि आज भी यह अपनी जड़ों से विच्छिन्न नहीं हुई है। आज भी यह अपनी मूल परम्पराओं से जुड़ी हुई है, अपनी माटी की गंध को भूली नहीं है। आज भी ब्रज क्षेत्र के ब्राह्मण बालक ही रास में 'स्वरूप' बनते हैं। इन लीलाओं में लड़कियों को सम्मिलित नहीं किया जाता। स्त्री पात्रों का अभिनय भी लड़के ही करते हैं। रास मंच की मर्यादा यह भी है कि उसका कोई भी कलाकार विवाहोपरान्त श्रीकृष्ण अथवा प्रिया जी का स्वरूप नहीं बन सकता। आज से 20-25 वर्ष पहले तक नारी पात्रों के चेहरे पर घूँघट भी रहता था। परन्तु नारी जागरण की लहर के चलते घूंघट का प्रचलन समाप्त हो गया। लीला मंचन के उपरान्त राधा–कृष्ण के स्वरूप की दुबारा आरती के समय जन–सामान्य का उससे जुड़ना भी

परम्परा से चला आ रहा है। इससे आम लोगों की आध्यात्मिक भावना की संतुष्टि और लीला आयोजकों की चढ़ावा बटोरने की प्रवृत्ति पूरी होती है। हमारा देश धर्म–प्राण होने के कारण लोग इस अवसर पर अधिकाधिक भेंट चढ़ाकर अपने को धन्य समझते हैं।

निश्चय ही ब्रज की रासलीला का देश के सांस्कृतिक अभ्युत्थान में महत्वपूर्ण योगदान है। यह पूरे भारत को एक सूत्र में बांधने में सक्षम है। 'रास पंचाध्यायी' के अनुसार, "श्री राधा ही राजेश्वरी हैं। उनके बिना रासलीला भी संभव नहीं है। इस प्रकार इस रासलीला में श्रीकृष्ण ने ब्रजांगनाओं और श्रीराधा की महिमा ही घोषित की है।"[4] मानना पड़ेगा कि "नृत्य, संगीत एवं वादन की सुखद त्रिवेणी का संवाहक यह रास भारतीय संस्कृति से सम्बद्ध कला–जगत का अनमोल रत्न है।"[5]

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि परिवर्तन के विभिन्न सोपानों पर चढ़ती हुई ब्रज की रासलीला अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हुई है। भारत की सांस्कृतिक परम्परा में इसका एक छोर अर्न्तभुक्त है, तो दूसरा छोर मंचन के नव्यतर प्रयोगों तक जा पहुँचा है। परिणामस्वरूप लाखों की संख्या में प्रेक्षक इन लीलाओं का आनन्द लेते हैं। लोकप्रियता के शीर्ष पर पहुँची हुई मंडलियों के लीला प्रदर्शन के समय अथाह भीड़ को नियंत्रित करने के लिए क्लोज सर्किट टेलीविजन तक लगवाने पड़ते हैं। न केवल ब्रजभूमि, अपितु देश–विदेश में ये लीलाएँ मंत्रमुग्ध होकर देखी और सराही जाती हैं।

अस्तित्व संकट के अद्यतन दौर से गुजरती दूसरी लोककलाओं के लिए ब्रज की रासलीला कदाचित् भीषण आतप–ताप में राहत देने वाला पवन झकोरा है। अपने पारम्परिक स्वरूप की रक्षा करते हुए अन्य लोककलाएँ भी यदि नई सदी की पदचापों को सुनें, तो बुरा क्या है? सम्पूर्ण पुराने के साथ कुछ नये संयोजन यदि उन्हें कालजयी बना सकें, तो ध्वंसावशेष मात्र अवशिष्ट लोककलाओं के लिए यही संजीवनी रस निश्चय ही बहुत उपादेय होगा। शर्त सिर्फ यही है—उनकी पारम्परिकता को ठेस न पहुँचे। और यही चेतावनी ब्रज की रासलीला के लिए भी है कि नये प्रयोगों को अपनाने के अति उत्साह में कहीं वह अपनी मूलभूत जड़ों से विच्छिन्न न हो जाये। पाँच शताब्दियों के सफर का उत्स तो अंततः 16वीं शताब्दी ही है न! आध्यात्मिकता, उदात्तता और शास्त्रीयता ही वे असली रत्न हैं, जिनकी तुलना में केवल नकली चमक–दमक ज्यादा दिन नहीं टिक सकती। अतः रास की देह के अलंकरण के साथ उसकी आत्मा के अलंकरण को प्राथमिकता देना जरूरी है। तभी ब्रज की रासलीला का पाँच शताब्दियों का लंबा सफर आगे भी निष्कटंक चल सकेगा।

संदर्भ–

1. हिन्दी साहित्य कोश, भाग एक, ज्ञानमंडल लिमिटेड वाराणसी, द्वितीय संस्करण सं. 2020, पृ. 714
2. ब्रज की रासलीला, प्रभुदयाल मीतल, वृंदावन शोध संस्थान, वृंदावन सं. 2011, पृ. 2
3. कृष्णभक्ति कला का जीवंत मंच–रासलीला, विष्णुचंद्र पाठक, त्रैमासिक हरसिंगार, साहित्य मंडल श्रीनाथ द्वारा, पृ. 7
4. श्रीरासपंचाध्यायी; अनुवादक नारायण गोस्वामी महाराज गौड़ीय वेदांत प्रकाशन, वृंदावन की प्रस्तावना।
5. रासलीला, डॉ. वसन्त यामदग्नि, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, दिल्ली, संस्करण 1985; लेखकीय वक्तव्य।

लोक साहित्य में ब्रज की उपस्थिति

–यशवंत सिंह

भक्ति आंदोलन के दौरान कृष्ण–आराधकों के लिए ब्रज परम् ब्रह्म श्रीकृष्ण की लीला भूमि के रूप में मान्य हुआ। मथुरा और उसके आसपास का प्रदेश प्राचीन काल से ही अपने सघनवनों, विस्तृत चारागाहों, स्वच्छ गोष्ठों और दुधारू गायों के लिए प्रसिद्ध रहा है। भगवान श्रीकृष्ण का जन्म तो मथुरा के कारागृह में हुआ लेकिन सुरक्षा कारणों से उन्हें गुप्त रीति से यमुना पार की निकटवर्ती गोप–बस्ती (गोकुल) में भेज दिया गया। जहाँ पर उनका शैशव एवं बाल्यकाल गोपराज नंदबाबा और उनकी पत्नी माँ यशोदा के वात्सल्यमयी लालन–पालन में गुजरा। वहीं पर श्रीकृष्ण की बाल्य एवं गोपाल लीलाएँ गोपियों, गोपों एवं गोधन के साथ सम्पन्न हुई। इसीलिए कृष्णभक्त कवियों के लिए मथुरा और उसके निकटवर्ती ब्रज–क्षेत्र का अत्यधिक महत्व है। उन्होंने तो इस क्षेत्र में एक नया स्वर्ग–'गोलोक' ही रच दिया, जिसमें मथुरा, वृन्दावन, गोकुल और गोवर्धन सहित समस्त 'ब्रजभूमि' समाहित है–

'ब्रज चौरासी कोस में चारि गाँव निजवाम,
वृन्दावन और मधुपुरी, बरसानो नंदगाम।'

इस ब्रज चौरासी कोस के परिमाप को ही 'ब्रजमण्डल' अथवा मथुरा मण्डल कहा गया, जिसके सीमा–निर्धारण के लिए यह उक्ति प्रचलित है–

'इत बरहद उत सोन नद, उत सूरसेन को गाँव
ब्रज चौरासी कोस में, मथुरा मण्डल माँह।'

अतः मथुरा नगरी सहित निकटवर्ती वह ग्रामीण क्षेत्र, जो भगवान श्रीकृष्ण के जन्म और उनकी विविध मनमोहक लीलाओं से सम्बन्धित है, ब्रज कहलाता है। इसमें मथुरा, वृंदावन, गोवर्धन, गोकुल, बल्देव, नंदगाँव, बरसाना, डीग, कामवन आदि श्रीकृष्ण के लीलास्थल सम्मिलित हैं, जिसकी सीमा चौरासी कोस निर्धारित की गयी है। श्रीकृष्ण का जन्म स्थान होने के कारण मथुरा नगरी की महत्ता अविस्मरणीय है–

'तीन लोक सों मथुरा न्यारी, जामै बसते कृष्णमुरारी।'

भारतीय मनीषियों के अनुसार 'लोक' दृष्टिगोचर समस्त संसार है। जिसके अन्तर्गत भूमि में स्थित नदी–पर्वत जंगल आदि, भूमि में निवास करने वाले जनसामान्य–

प्राणी तथा उनके विविध क्रियाकलाप–रीतिरिवाज, परम्पराएँ, विश्वास, व्रत–त्योहार, खेलकूद, खान–पान, हास–परिहास आदि का समावेश होता है। ब्रज क्षेत्र में श्रीकृष्ण का जन्म एवं उनकी विविध लीलाएँ सम्पन्न हुईं। इसलिए ब्रज के लोकजीवन में बालक कृष्ण की लीलाओं के साथ यमुना नदी, गोवर्धनपर्वत, वृन्दावन, नंदगाँव–बरसाना आदि ग्रामीण क्षेत्र, वहाँ पर विचरण करने वाली गायें, कदम्ब वृक्ष के साथ चिरप्रेयसी राधा की छवि रची–बसी है। 'सूरसागर' में श्रीकृष्ण व राधा के प्रथम मिलन के समय रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण भोली–भाली राधा से बूझते है कि हे गोरी! तू कौन है, कहाँ पर रहती है, किसकी छोरी है, हमारे साथ खेलने क्यों नहीं आती? लेकिन ब्रज के लोकगीतों में रंगीली राधा ही प्रथम मिलन के समय श्रीकृष्ण को अपना परिचय देकर उन्हें अपने यहाँ आने को निमंत्रित करती है–

'राधा रंगीली मेरो नाउ सांवरे आइ जइयो, जमुना किनारे मेरो गांव सांवरे आइ जइयो।

खसखस को बंगला बनवाऊं, चुनि–चुनि कलियाँ सेज बिछाऊं,

हौले हौले मसकूँ तेरे पांय, प्रेमरस प्याइ जइयो।'

इस लोकगीत में प्रेमरस में पगी राधिका श्रीकृष्ण को जैसे पति के रूप में अपनाने को तैयार दिखती है। इसी भाव को प्रेषित करते एक अन्य गीत में राधा का रंगीला रूप दिखने के साथ ही श्रीकृष्ण के प्रति उनका भक्ति भाव भी प्रकट हुआ है–

'जमुना किनारे मेरो गांव कन्हैया जी आ जइयो।

जमुना किनारे मोरी ऊँची अटरिया,

मैं ब्रज की एक छोरी नवेलिया,

राधा रंगीली मेरो नाम, कन्हैया जी वंशी बजा जइयो।

मल–मल कर असनान कराऊँ, घिस–घिस चंदन लेप लगाऊँ,

पूजा करूँगी सुबह शाम, कन्हैया जी माखन खा जइयो।

जमुना किनारे मेरो गांव, कन्हैया जी आ जइयो।'

ब्रज में अनंतकाल से प्रकृति के साथ निवास करने तथा स्वयं प्राकृतिक परिवेश का अंग होने कारण मानव मन में प्रकृति के प्रति सदैव एक अटूट रिश्ता रहा है। कालिन्दी कूल, कदम्ब की छाँव, गाय, गोरस, ग्वाल–बाल, गोपियाँ आदि के प्रति सहज लगाव यहाँ के लोकजीवन की विशेषता है। यहाँ पर विविध ऋतुओं के रूप में प्राकृतिक परिवेश मनुष्य के अंदर जो हलचल पैदा करता है वह बसन्त ऋतु के होली

के उल्लास–उमंग और वर्षा ऋतु के झूलनोत्सव के रूप में प्रकट हुआ है। ब्रज की होली अपने आप में अनूठी व अभूतपूर्व है, जो देश–विदेश में मशहूर है। बरसाने की लट्ठमार होली तो जगत प्रसिद्ध है, जिसमें राधा–कृष्ण के अटूट माधुर्य सम्बन्ध को प्रदर्शित किया जाता है–

'बरसाने में आज स्याम होरी ए।
कौन के हाथ गडुअरा सोहे, कौन के हाथ कमोरी है।
राधा के हाथ गडुअरा सोहे, कान्हा के हाथ कमोरी है।
भरि पिचकारी सनमुख मारो, मस्तक मलि दई रोरी है।'

राधा–कृष्ण के होली खेलने का भाव ब्रज के बाहर अन्य क्षेत्रों के लोकगीतों में भी विद्यमान मिलता है। मिथिलाचंल के एक होली गीत में यमुना तट पर राधा–कृष्ण साथ–साथ होली खेलते दिखते हैं–

'जमुना तट श्याम खेलत होली जमुना तट
किनका हाथ कनक पिचकारी किनका हाथ अबीर झोरी
श्यामक हाथ कनक पिचकारी राधा खोंइछ अबीर झोरी,
कसि–कसि मारत श्याम पिचकारी राधा–कृष्ण खेलत होरी,
बाबरा तू मते होउ श्याम हौ लाज बचावहु तुम मोरी।'

इसी तरह एक अन्य लोकगीत में नंदलाल कृष्ण ब्रज के नर–नारियों के साथ होली खेलते व रास रचाते नजर आते हैं–

'होली खेलत नंदलाल बिरज में होली खेलत नंदलाल,
ग्वाल बाल संग रास रचावे नटखट नंदगोपाल बिरज में ...
बाजत ढोलक झांझ मंजीरा, गावत सब मिल आज कबीरा
नाचत देवे ताल बिरज में ...
भर–भर मारे रंग पिचकारी भीग गये ब्रज के नर–नारी,
उड़त अबीर गुलाल बिरज में, होली खेलत नंदलाल।'

ब्रज में वर्षा ऋतु में तो किशोरियों के मधुर कंठ मोहक गीतों का ताना–बाना बुन देते हैं, जिसमें कहीं पर श्याम मनिहार का भेष बदलकर ब्रजनारियों को चूड़ी पहनाने आ जाते हैं तो कहीं पर ये यमुना के तीर पर प्यारी राधा को झूला झुलाते हुए दिखते हैं–

देखौ री मुकुट झोका ले रह्यौ
लै रह्यौ जमुना के तीर, देखौ री मुकुट झोका ले रह्यौ

अरी कौन बरन रानी राधिका, ए जी कौन बरन घनश्याम
देखौ री मुकुट झोका ले रह्यौ
अरी गौर बरन रानी राधिका, ए जी श्याम बरन घनश्याम
देखौ री मुकुट झोका ले रह्यौ
अरी बिजुरी–सी चमकै रानी राधिका, ए जी बारिद से घनश्याम
देखौ री मुकुट झोका ले रह्यौ
कहा तो पहरै रानी राधिका, ए जी कहा पहरे घनश्याम
देखौ री मुकुट झोका ले रह्यौ
नीलम फरिया (फनेक) पहने रानी राधिका, ए जी पीताबंर घनश्याम
देखौ री मुकुट झोका ले रह्यौ .....।

लोकगीतों में श्रीकृष्ण द्वारा ब्रज की गोपियों से छेड़छाड़ करने के वर्णन भी मिलते हैं, जो उनकी रसिक भावना को प्रकट करते हैं। एक गीत में श्याम वन में अकेली गोपी का रास्ता रोक लेते हैं। जिस पर गोपी अनुनय–विनय कर छोड़ देने का आग्रह करती नजर आती है–

'इकलो घेरी वन में आइ स्याम तैने कैसी ठानी रे।
स्याम मोय विन्द्रावन जानो,
लौट के बरसाने आने।
मेरी कर जोरे की माने,
जो मोइ अबेर, लड़े घर ननद जिठानी रे।'

एक बुंदेली फाग में तो ब्रज की छोरियों ने श्याम के डर से यमुना तट का रास्ता चलना ही छोड़ दिया है–

'जमना डगर बिसारैं, गुइयां मनमोहन के मारें
बनसी की टेर–टेर सबद कहत बेर–बेर ले–ले नाम हमारें।
बैठे रहत कदम की छांह, झपट गहत मोरी बांह, खैंचत चीर
चंद सखी सुनी श्याम, मधुर बचन कहत वाम, कल न परत हमारे।'

कार्तिक स्नान के समय बुन्देलखण्ड की क्वारी लड़कियों द्वारा गाये जाने वाले एक गीत में लड़कियाँ कन्हैया जैसा वर प्राप्त करने की मन में अभिलाषा रखते हुए भी माँ यशोदा को उलाहना देने से नहीं चूकतीं–

'कन्हैया तोरो कारो मैं न करूं ब्याह।
कारी रात अंधियारी में आयौ,

याही ते अति कारौ, मैं न करूं ब्याह।

तेरौ कन्हैया मुरली बजावै

मोरा मन मोहे बारौ मैं न करूं ब्याह,

कन्हैया तोरो कारो मैं न करूं ब्याह।'

ब्रज की छोरिया कन्हैया जैसे पति, जो ब्रज में ही निवास करता हो, के साथ विवाह हो जाने की कामना करती हैं। जिनके साथ ऐसा सम्भव नहीं हो पाता, उनके तो मानो करम ही फूट जाते हैं–

'मथुरा की बेटी गोकुल का गाम, करम फूटै तो बाहर जाय।'

यह एक लोकप्रचलित धारणा है कि नंदगाँव में ब्याही गयीं बरसाने की लड़कियाँ दिन भर तो अपने मायके बरसाने में रहती हैं। लेकिन शाम के समय वे अपनी ससुराल नंदगाँव पहुँचकर रात्रि विश्राम करती हैं। ऐसा सुख, ब्रज से दूरस्थ स्थान में लड़की की शादी होने पर, नसीब नहीं होता है।

ब्रज के लोकजीवन में कृष्ण के साथ राधा भाव कुछ ऐसा रचा–बसा है कि वहाँ पर राधा के बिना कृष्ण अधूरे नजर आते हैं। यह राधा–माधव भाव कभी–कभी लोकमानस में ऐसा हावी हो जाता है कि लोग केवल 'राधा' नाम के उच्चारण से ही अपने को सार्थक समझने लगते हैं–

'वृन्दावन में रहना है तो, राधे–राधे कहना है।'

सच तो यह है कि हम सबके मन में 'ब्रज' रचा–बसा है। ब्रज की यादें यहाँ से जाने के बाद भी भुलाये नहीं भूलतीं। मनुष्य तो क्या स्वयं परम् ब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण भी जब ब्रज को छोड़कर जाते हैं तो उसकी मधुर यादें हमेशा उनके मन को विचलित करती रहती हैं–

'ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।

हंससुता की सुंदर कगरी, अरू कुंजनि की छाँहीं।

वै सुरभि वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।

ग्वाल बाल मिलि करत कुलाहल, नाचत गहि–गहि बाहीं।

× × × × × × × × × × ×

सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि–कहि पछिताहीं।'

ब्रज के लोकगीत

–संध्या द्विवेदी

भारत देश संस्कृतियों का देश कहलाता है। किसी भी देश के वास्तविक संस्कृति को समझना हो तो वहाँ के लोक साहित्य को समझना अति आवश्यक है। साहित्य में समाज का ही प्रतिबिम्बित रूप होता है। जैसा कि शुक्ल जी ने लिखा है–"साहित्य मनुष्य की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब है।"[1]

लोक साहित्य जनता की सांस्कृतिक धरोहर है। लोक साहित्य उतना ही पुराना है जितना कि मानव समाज, अनादिकाल से वे एक दूसरे के पूरक हैं। जब मनुष्य प्रकृति की गोद में पल्लवित होता था, आडंबर एवं कृत्रिमता से दूर स्वछन्द विचरण करता था। स्व से परे उसका अपना एक साहित्य जिसके आदि और अंत के विषय में कुछ भी प्राप्त नहीं। लोक साहित्य का सम्बन्ध लोक मानस से है और अपनी इस धरोहर को पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित कर उसे संचित रखते हैं। लोक साहित्य दो शब्दों से मिलकर बना है–'लोक' एवं 'साहित्य' लोक साहित्य के पुरोधा कृष्णदेव उपाध्याय जी ने लोक को परिभाषित करते हुए लिखा है–"आधुनिक सभ्यता से दूर अपनी सहज तथा प्राकृतिक अवस्था में वर्तमान, तथाकथित, असभ्य एवं अशिक्षित जनता को 'लोक' कहते हैं, जिनका जीवन दर्शन और रहन–सहन प्राचीन परंपराओं, विश्वासों तथा आस्थाओं द्वारा परिचालित एवं नियन्त्रित होता है।"

"सभ्यता के प्रभाव से दूर रहने वाले अपनी सहजावस्था में वर्तमान और निरक्षर जनता है, उसकी आशा–निराशा, हर्ष–विषाद, जीवन–मरण, लाभ–हानि, सुख–दुःख आदि की अभिव्यंजना जिस साहित्य में प्राप्त होती है उसे लोक साहित्य कहते हैं। इस प्रकार लोक साहित्य जनता का वह साहित्य है जो जनता के द्वारा जनता के लिए लिखा गया हो।"[2]

प्रत्येक क्षेत्र का अपना एक समृद्ध लोक साहित्य होता है जैसे अवधी, बुन्देली, कन्नौजी, गढ़वाली, कुमाउंनी, राजस्थानी आदि। जिसके माध्यम से आदिम परम्पराएं अभी तक जीवन्त एवं समृद्ध है। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी क्षेत्र विशेष रूप से ब्रज का भी अपना एक लोक साहित्य है। (अमर कोष में 'ब्रज' को 'गोष्ठ' का पर्याय माना है– 'गोष्ठाध्वनिवहा ब्रजः'। ब्रज का केन्द्र स्थान 'मथुरा' है। मथुरा के आस–पास का क्षेत्र

'ब्रज क्षेत्र' के नाम से जाना जाता है। आयरलैण्ड के सुप्रिसिद्ध भाषाविद् ग्रियर्सन ने लिंग्विस्टिक सर्वे में ब्रजभाषा क्षेत्र को परिसीमित करते हुए लिखा है—"मथुरा जिला राजस्थान का भरतपुर जिला तथा करौली का उत्तरीय अंश, जो भरतपुर एवं धौलपुर की सीमाओं से मिला–जुला है। मध्यप्रदेश के 'मुरैना' और भिंड जिले का लगभग 26 उत्तर अक्षांश से ऊपर का भाग आगरा जिला कुल, इटावा जिले का अधिकांश, मैनपुरी जिला, एटा जिला (पूर्व के कुछ अंशों को छोड़कर जो फर्रुखाबाद जिले की सीमा से मिले–जुले हैं) अलीगढ़ जिला (उत्तर पूर्व में गंगा नदी की सीमा तक) गुड़गाँव जिले का दक्षिणी अंश (पलवल के सीध से) बुलन्दशहर का दक्षिणी लगभग आधा भाग (पूर्व में अनूपशहर की सीध से लेकर) तथा अलवर जिले का पूर्वी भाग जो गुड़गाँव जिले के दक्षिणी तथा भरतपुर के पश्चिमी जिले से मिला–जुला है।"[3]

इस क्षेत्र की अपनी एक बोली है। जो शौरसेनी की कोख से जन्म लेकर पुष्पित एवं पल्लवित हुई है, जिसे ब्रजभाषा के नाम से जाना जाता है। जिसमें अपना एक लोक साहित्य रचा एवं बसा हुआ है। सम्पूर्ण लोक साहित्य का निम्न बिन्दुओं के आधार पर अवलोकन किया जा सकता है—लोक गीत, लोक गाथा, लोक कथा, लोक नाट्य, प्रकीर्ण साहित्य।

भारत में ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में लोकगीतों का स्थान सर्वोपरि हैं। लोकगीत विभिन्न पर्वों और त्योहारों में ढोलक की थाप तथा उसके बिना भी जन–जीवन को मंत्र–मुग्ध करने वाले होते हैं। लोकगीत चमत्कार उत्पन्न करने वाले अलंकारों से परे, छन्दों की परिपाटी को तोड़, स्वच्छन्द रूप से रस की धारा में लोक जन को निरन्तर भिगोती है।

रामनरेश त्रिपाठी जी ने लोकगीतों को ग्यारह श्रेणियों में रखा है—संस्कार सम्बन्धी गीत, चक्की और चरखे के गीत, धर्म के गीत, ऋतु सम्बन्धी गीत, खेती, भिखमंगी तथा मेले के गीत, जाति गीत, वीरगाथा गीत कथा, अनुभव के वचन आदि।

कृष्ण देव उपाध्याय जी ने अपनी पुस्तक 'लोक साहित्य की भूमिका' में लोक गीतों को 6 भागों में विभाजित किया है—

1. संस्कारों की दृष्टि से,
2. रसानुभूति की प्रणाली से,
3. ऋतुओं के क्रम से,
4. देवता सम्बन्धी गीतों की दृष्टि से,
5. विभिन्न जातियों के प्रकार से,

6. श्रम–गीत की दृष्टि से।

इस प्रकार लोक साहित्य में लोक गीतों का वर्गीकरण किया गया है।

संस्कारों की दृष्टि से

हिन्दू धर्म में जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक की अवधि में अनेक संस्कार किये जाते हैं। हिन्दू धर्म शास्त्रों में संस्कारों की संख्या कहीं–कहीं पर 40 तक बताई गयी है, पर प्रमाणिक रूप में 16 संस्कार ही माने गये हैं जो इस प्रकार हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोनयन, जातिकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्रासन, चूड़ाकरण, कर्णाभेद, उपनयन, केशान्त, समावर्तन विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास, पितृमेघ तथा अन्त्यकर्म। नौ संस्कार शिशु के जन्म के पूर्व से लेकर बाल्यावस्था तक सम्बन्धित हैं शेष 7 इसके बाद सम्पन्न होते हैं।

संस्कारों के अवसर पर समय–समय पर अनेक लोक गीत गाये जाते है। जैसे पुत्र जन्म के समय, सोहर, जच्चा, विवाह के शुभ अवसर पर बरनी, बरना, नकटा, गारी, समधन, देवी–भजन अन्य अनेक। विभिन्न संस्कारों के अवसर पर स्त्रियाँ कोमल कंठ से गाकर लोकजन का अनुरंजन करती हैं। कुछ गीत हृदय में उल्लास भरते हैं, तो कुछ लोकगीत हृदय विदारक होते हैं। गर्भधारण के पश्चात् सातवें महीने में 'पुंसवन' संस्कार मनाया जाता है, जिसमें साध पूजी जाती है और इसी समय से घरों में सोहर गीतों का प्रारम्भ हो जाता है। जिसमें माँ की विविध मनःस्थितियों का वर्णन किया जाता है। इन गीतों में प्रसव पीड़ा के अनेक गीत पाये जाते है। जिसमें वह सास ननद से कहती है—'बांटि लेउ कोई पीर हमारि' और इसके उत्तर में वह जबाब देती हैं—

अलबेले कुमर तैने बिरद, उठाई सासु ननद बाकी ओली टोली मारें।
कुत्ता बिलैया के टूंकुन डारयों, अब कैसे होइ निस्तारौ॥
सास ननद सो बोल जु बोल, अब कैसे होई निस्तारो।[4]

और पुत्र जन्म के समय पश्चात् बधाई गीतों की श्रृंखला चल पड़ती है—

'देवकी लला भैना जसुदा के गोद खेलें।
बाबा की उंगली पकरें गोकुल की गलियां डोलैं।'
पैदा होते ही वे जेल के फाटक तोड़ें।
देवकी लला भैना जसुदा के गोद खेलें।[5]

तो कहीं इस खुशी के अवसर पर ननद भाभी से नेग माँगती हैं। भाभी देने से मनाकर देती हैं इस प्रकार और दोनों की मीठी झिड़कियाँ भी देखने को मिलती हैं। ननद अपनी भाभी (भावज) को याद दिलाती है कि उसने वचन दिया था कि पुत्र जन्म होने पर वह गलहारू अर्थात् गले का हार देगी–

"जो बीबी मेरे होगें नन्दलाल

तुम्हें दूँगी गलहारू।"

और कहीं–कहीं पर लोक नायिकाएँ पुत्र जन्म के अवसर पर, खुशी से झूमते हुईं आपस में उल्लास को इस प्रकार प्रकट करती हैं–

"बाजी–बाजी बधाई मोरे अँगना, मैया के अँगना, बाबा के अंगना।

बाजी–बाजी बधाई मोरे अंगना।

ब्रम्हा जी दर पर ठाढ़े, शंकर जी ठाढ़े अंगना।

बाजी–बाजी बधाई मोरे अंगना।"[6]

मनुष्य के जीवन में विवाह का बड़ा महत्व है। अविवाहित मनुष्य का जीवन अपूर्ण माना जाता है। ब्रज क्षेत्र में विवाह संस्कार 'लगुन' से प्रारम्भ होकर विदाई तथा उसके बाद तक चलते रहते हैं। विवाह के गीतों में एक ओर उल्लास के रंग बिखरे हुए दिखाई पड़ते हैं, तो वहीं दूसरी ओर बेटी विदा के समय करुणा का सागर हिलोर मारता दिखाई पड़ता है। इन गीतों को सुनकर पाषाण हृदय भी द्रवित हो उठेगा–

"औरे रे कौरे गुड़ियाँ ओ छोड़ीं।

रोमत छोड़ीं सहेलरी।

अपने बाबुल कौ देसु जो छोड़यौ।

अपने ससुर के संग चलीं।

लेओ बाबुल घर अपनो छोटे।

बिरन पकर्‌यो रथ कौ औ डंडा

अपनी पराए पराई आपने

जिअ जग कौ ब्यौहारु,

अब कहा बोलूं दारी कारी कोईलिया।

छोड़यौ बाबुल कौ देसु।"[7]

रसानुभूति की प्रणाली से

लोक गीत हो वह भी नीरस ऐसा भला कैसे हो सकता है ? यह तो स्वछन्द रूप से अपनी रस धारा में जन–जन को भिगोते हैं। सागर में जब गोताखोर डुबकी लगाता है और बाहर आता है तो उसके हाथ खाली नहीं होते कुछ ना कुछ अवश्य होता है। उसी प्रकार लोकसाहित्य रूपी सागर में लोकजन जब डुबकी लगाता है तो बिना उल्लसित एवं आनंदित हुए नहीं रह सकता। इनमें नीरसता का सर्वथा अभाव है।

ऋतु संबंधी गीत

"विश्व में कोई भी देश नहीं है जहाँ प्रकृति मनुष्य के हृदय में नव–चेतना का संचार न करती हो, इसी कारण उनके मन में नवीन चेतना जागृत होती है, जो गीत का स्वरूप धारण करती है।"[8]

भारत में समय–समय पर अनेक ऋतुओं का आगमन होता हैं जैसे–ग्रीष्म, वर्षा, शरद, शिशिर, हेमन्त, बसन्त आदि। ब्रज क्षेत्र में ग्रामवासी सावन ऋतु के आने पर गाँव के बाहर झूले डालते हैं और गाँव की स्त्रियाँ झूला झूलती हैं, पुरुष झूला झुलाते हैं। इस परम्परा के दौरान स्त्रियाँ 'कजली' लोक गीत का गान करती हैं।

सावन माह में झूले की पैंग के साथ नवयुवतियों का झूला गीत इस प्रकार है–

"झुकि जोर बदरा बरिस चौं न जाइ।
अब तेरी छाई है बहार, झुकि जारे।
कौन की भीजैं पंचरंग पाग।
झुकि जारे बदरा बरसि चौं न जाइ।
राधा की भीजै चंपा चूंदरी।
कान्हा की भीजे पंचरंग पाग
झुकि जारे बदरा बरसि चौं न जाइ॥"[9]

वर्षा ऋतु में बारहमासा, मल्हार तथा झूला गीत अति प्रसिद्ध हैं।

इसी प्रकार फाल्गुन मास में होली पर्व के समय फाग का लुत्फ लोग उठाते हैं। बरसाने की लट्ठ मार होली विश्वविख्यात है। इसके अलावा साँझी, टेसू, झाँझी आदि गीत भी प्रसिद्ध हैं।

देवता संबंधी गीतों की दृष्टि से

लोक जन का कोई भी कार्य ईश्वर के बिना अधूरा है, वह अपने हर मांगलिक कार्य में ईश्वर को सर्वप्रथम स्मरण करते हुए मंगल गीत गाते हैं। सुख हो या दुख

प्रत्येक परिस्थिति में ईश्वर उनके साथ है इसलिए ईश्वर से विमुख होने की तो वह कल्पना भी नहीं कर सकते।

ब्रज क्षेत्र भगवान कृष्ण की जन्मस्थली एवं कर्मस्थली रही है। कृष्ण ने अपने बाल्यकाल में अनेक लीलाएँ कीं। ब्रजवासी कृष्ण को अपना आराध्य मानकर कृष्ण जन्मोत्सव के समय कृष्ण जन्म के अनेक लोकगीतों को गाते हुए यह पर्व मनाते हैं–

"आज ब्रज भयो सकल आनन्द।
नंद महर घर ढोटा जायो पूरन परमानंद।
मंगल कलस विराजत द्वारे गावत गीत आनंद।
नाचत गोपी और गोप सब प्रगटे गोकुल चंद।
विविध भाँति बाजे बाजत हैं निगम पढ़त द्विज छंद।
छिरकत दूध–दही–धृत माखन प्रफुल्लित मुख अरविंद।"[10]

धार्मिक गीतों में लाँगुरियाँ से संबंधित अनेक गीत आपको सुनने को मिल जायेगें। जिसमें देवी के महत्व को स्थापित करते हुए उनकी उपासना एवं आराधना पर बल दिया गया है–

"मैने छोड़े देवर–जेठ,
पिआ ते लड़ि आई
मैने तेरी पकरि लाई बांह
लंगुरिया अब न छोड़ि कैं जाऊंगी
हाथी–घोड़ा, महल–अटारिया
छोड़ी सोने की सेज
लंगुरिया तेरी खटिआ मैं सोइ लूंगी।"[11]

व्रत संबंधी गीत

भारत एक धर्म प्रधान देश है और यहाँ पर निवास करने वालों का जीवन धर्ममय है। धर्म है तो वह हैं, धर्म से इतर कुछ भी नहीं। प्रत्येक मास में कोई ना कोई पर्व या त्योहार मनाया जाता है, तो उनकी धार्मिक चेतना को जागृत करता है।

होली, कृष्ण जन्माष्टमी, यम द्वितीया, गोधन, नागपंचमी, गुरु पूर्णिमा, राधाष्टमी, गोपाष्टमी, नन्दोत्सव, बलदेव–छठ, गनगौर, दुर्गाष्टमी, हनुमान जयंती, रक्षाबन्धन आदि अनेक पर्व हैं, जो आनंद और हर्षोल्लास के साथ मनाते हुए अनेक लोक गीत जनता को रसमय कर देते हैं।

जाति संबंधी गीत

भारत अनेक जातियों का गुलदस्ता है। कुछ ऐसे गीत भी है जिनमें कुछ जातियों को विशेषाधिकार प्राप्त हैं, जिस कारण 'जाति गीत' नाम से संबोधित किया जाता है। ब्रज क्षेत्र में 'जहारवीर' के गीत गाते हुए 'जोगिया' आपको दिख जायेंगे। इसके अतिरक्त बाबा जी, नट आदि जातियों के अपने लोकगीत हैं।

जाटवों का गीत–

"मोरे घर पै बैठो रे मेहमानु, गेहूँ तो खड़े खेत में
हरे–हरे तू तो बैठाई रहि मेहमानु, ए रोटी देउंगी जेठ में।
मेरी चूलि गई गंगापार, चाकी तो एक चाकी है चामलि पार कूँ।
मेरी पीसहारी पौसार ए पोपनहारी पेट सों।
हौ तो राँधन कैती धोवा दारि चौकलिसाई रैधि गई।"[12]

इसी प्रकार अन्य जातियों के गीत भी मिलते हैं जो अपनी संस्कृति को इन गीतों में सहेजे एवं समेटे हैं।

श्रम गीत

"श्रम गीत वे गाने है जो किसी काम को करते समय गाये जाते हैं। ऐसा देखा जाता है कि मजदूर लोग अपनी शारीरिक थकान को दूर करने के लिए काम करते समय गाना भी गाते जाते हैं, इससे उनका कार्य करने में मन लगा रहता और परिश्रम का पता नहीं चलता है।"[13]

उत्तर भारत के ब्रज क्षेत्र में लोग सदैव कार्य में व्यस्त रहते हैं जैसे आटा पीसना, धान रोपना, खेतों में घास निराना, कोल्हू में तेल पेरना आदि। इस दौरान वे अपनी थकान को मिटाने के लिए लोक गीतों का सहारा लेते हैं। इन गीतों में कहीं–कहीं करुण क्रन्दन सुनाई पड़ता है तो कहीं स्त्री–प्रेम की झांकी तो कहीं बहू का सास द्वारा सताये जाने का विवरण मिलता है। श्रम गीतों में जँतसार रोपनी, सोहनी (निखाहीं गीत) आदि प्रसिद्ध हैं। यह गीत किसी विशेष श्रम के दौरान ही गाये जाते हैं इसलिए इनको श्रम गीत कहा जाता है।

रसिया

देवेन्द्र सत्यार्थी के अनुसार–"रसिया में रस का झरना प्रवाहित होने लगता है। इसके हृदय स्पर्शी स्वरों की उड़ान इसकी सुन्दरता को और भी बढ़ा देती है। रसिया

आनन्द विभोर मन की वाणी दैनिक जीवन में ही इसका धरातल है। रसिया लोक जीवन का रस है। इसकी परम्परा अंखड है, अविभाज्य है।"[14]

रसिया के रचनाकार और इसके काल का आज तक पता नहीं चला। ये लगातार यमुना के जल की भाँति ब्रज में गतिमान रहे हैं। "जिस प्रकार 'जिकड़ी' का उल्लेख 'आईने अकबरी' में मिलता है उसी प्रकार रसिया का नहीं। रसिया ब्रज में प्रचलित है परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इसका आरम्भ कब हुआ और किसने किया।"[15]

रसिया रस की खान है, रास कृष्ण कौ नाम।

रस रसना याकूं रसे, होई प्रकट कृष्ण औ राम।

अलीगढ़ और हाथरस इसका प्रमुख केन्द्र माने जाते हैं।

लोक गीत केवल जन का अनुरंजन ही नहीं करते, समय एवं परिस्थिति के अनुरूप लोक गीतों में ऐतिहासिकता, राजनीति, भ्रष्टाचार, देश की आजादी से संबंधित, सामंती व्यवस्था, ग्रामीण किसान की दशा आदि अनेक समस्याओं को भी उजागर किया है। लोक गीत लोकमानस की आत्मा है। 'लोक' है तो 'लोकगीत' हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इन्हीं गीतों में हमारी भारतीय संस्कृति एवं परम्पराएँ अक्षुण्ण रहेंगी।

संदर्भ–

1. हिन्दी शब्द सागर–आचार्य रामचन्द्र वर्मा (8वाँ भाग) है। 4318
2. लोक साहित्य की भूमिका–कृष्णदेव उपाध्याय–पृ. 22
3. ब्रज विभव उद्धृत–सं. गोपाल प्रसाद व्यास–पृ. 55
4. ब्रज संस्कृति और ब्रज का लोक साहित्य–कन्हैयालाल चंचरीक/जगदीश पीयूष–पृ. 254
5. डॉ. सत्येन्द्र, पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ–पृं. 93
6. लोक साहित्य के प्रतिमान, कुन्दनलाल उप्रेती पृ. 262
7. ब्रज क्षेत्र के लोक संस्कार गीत–डॉ. मालती शर्मा पृ. 272
8. गंगा घाटी के गीत डॉ. हीरालाल तिवारी पृ. 37
9. ब्रज संस्कृति और ब्रज का लोक साहित्य–कन्हैयालाल चंचरीक/जगदीश पीयूष पृ. 208

10. ब्रज संस्कृति और ब्रज का लोक साहित्य–कन्हैयालाल चंचरीक/जगदीश पीयूष पृ. 226
11. वही, पृ. 227
12. उद्धृत सं. डॉ. सत्येन्द्र, पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ पृ. 156
13. लोक साहित्य की भूमिका–कृष्ण देव उपाध्याय पृ. 91
14. ब्रज लोक संस्कृति, डॉ. सत्येन्द्र पृ. 90
15. वही, पृ. 91

ब्रज साहित्य में महिलाओं की उपस्थिति

–नीलम राठी

'मथुरा की बेटी गोकुल की गाय। करम फूटे तौ अनत जाय॥' मथुरा (ब्रज–क्षेत्र) की बेटियों का विवाह ब्रज में ही होने की परंपरा थी और गोकुल की गायों को गोकुल से बाहर भेजने की परंपरा नहीं थी। चूँकि पुत्री को दुहिता कहा गया है अर्थात् गाय दुहने और गाय की सेवा करने वाली। ब्रज से बाहर जाने पर बेटी गऊ सेवा से वंचित हो सकती है और गऊ सेवा ब्रज जैसी होना बाहर कठिन है। (ब्रज डिस्कवरी) "भारतीय समाज और साहित्य में नारी की स्थिति और स्थान बहुत अधिक परिवर्तनशील रहा है। वैदिक युगीन साहित्य में जहाँ स्त्रियाँ काफी सम्मान जनक स्थिति में थी वहीं मध्यकाल तक आते–आते उनकी स्थिति दोयम दर्जे की हो चुकी थी। भारतीय संस्कृति में जिस नारी को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है उसके दैवीय स्वरूप आदि शक्ति की कल्पना की गई है। जिसे सृष्टि की नियामक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। वही नारी धीरे–धीरे अपने सर्वोच्च पद से च्युत होते हुए पुरुष की अर्धांगिनी से पुरुष की उपभोग्य संपत्ति मानी जाने लगी। भक्तिकाल जो साहित्य का स्वर्णयुग कहलाता है वहीं रीतिकाल को नारी पतन का युग माना जाने लगा। भक्तिकाल से आज तक ब्रजभाषा के साहित्य ने आध्यात्म, समाज और हृदयानुभूतियों को अपने में समेटे हुआ है। युद्ध, लूट और कूट की नीतियों के कठिन काल में परिवर्तन के साथ शान्ति और सद्भावना का संदेश लेकर चारों ओर भक्तिकाल में संतों का उदय हुआ जबकि केंद्र में इस्लामिक शक्तियाँ राज कर रही थीं।"

देखना यह है कि समाज में नारी का जो स्थान था, ब्रजभाषा साहित्य में नारी उसी रूप में चित्रित की गयी है? अथवा नहीं। समाज की सारी मान्यताएँ, मर्यादा उसके युग के साहित्य में स्वतःउभर आती हैं। यही कारण है कि आदिकाल से लेकर आजतक ब्रज साहित्य में चित्रित नारी का रूप अपने युग की नारी विषयक मान्यताओं के ही प्रतिरूप है। **"मध्ययुग का समाज सामंतवादी पद्धति पर आधारित था, जिसमें सम्राट शीर्ष पर था, जिसके बाद उच्चवर्ग के अंतर्गत राजा अधिकारी व सामंत थे जिन्हें समाज में विशेष अधिकार व सम्मान प्राप्त थे।"**

पूरे देश में छोटे–छोटे सामंतों व अमीरों का बाहुल्य होता गया। इन अमीर उमरा वर्ग को हर तरह की सुख–सुविधाएं प्राप्त थीं, अतः ये अत्यंत विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। अपने धन और साधनों का उपयोग वे विलासिता, असीम शान शौकत और ठाठबाट में करते थे। उस समय उनकी विलासिता की भावना दुर्दम्य व अद्‌वितीय थी।

मध्यकाल दो भागों में विभक्त हुआ–भक्तिकाल और रीतिकाल। भक्तिकाल में भक्ति की विभिन्न धाराएँ प्रचलन में रहीं हर धारा में नारी भिन्न–भिन्न रूपों में दृष्टिगत रही। भक्तिकाल की संतमार्गी धारा ने जहाँ नारी को भक्ति में बाधक मानते हुए **'नारी की झाँईं परत अंधा होत भुजंग'** कहकर नारी से दूर रहने की सलाह दी वहीं नारी के पतिव्रता रूप की वंदना भी की। कबीर ने माया और वासना के दलदल में फँसी नारियों का विरोध किया है। **"स्त्री प्रेम की निश्चलता और पवित्रता के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही उन्होंने परमात्मा के प्रति अपना प्रेम और समर्पण व्यक्त करने के लिए पत्नी अथवा माता का रूप चुना–हरि मोर पिऊ मैं राम की बहुरिया अथवा हर जननी मैं बालक तोरा।"** उसी प्रकार **सांई के संग सासुर आई** तथा **दुलहिनि गावहु मंगलाचार** जैसी उक्तियों में उनका स्वयं को स्त्री मानना, स्त्री रूप को प्रतिष्ठित करना है। इस संदर्भ में पुरुषोत्तम अग्रवाल ने कहा है कि **"कितना रोचक है यह विरोधाभास कि यही कबीर जब परमात्मा के प्रति अपना प्रेम और समर्पण व्यक्त करना चाहते हैं तो कविता में नारी बन जाते हैं, जैसे शरीर–रचना और समाज–रचना से प्राप्त पुरुषत्व का दर्प आत्मा के निश्चल प्रेम को वहन करने में असमर्थ है।"**

सूफी काव्य में भी नारी को आध्यात्मिक दृष्टि से साध्य माना और उनकी कहानी लोक के पात्रों से ही लीं। जायसी, मंझन आदि ने नारी के इसी रूप का प्रकटीकरण किया। कृष्ण भक्त सूरदास और उनके समकालीन ब्रजभाषा के कवियों ने नारी के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। यशोदा को वात्सल्य की प्रतिमूर्ति के रूप में चित्रित किया तो राधा और गोपियों को कृष्ण की प्रेमिका के रूप में। कृष्ण काव्य में नारी का मातृत्व, प्रेयसी और पत्नी रूप का चित्रण किया है। कृष्ण भक्तिकाल में नारी की अस्मिता के साथ कोई समझौता नहीं मिलता यही कारण है की अनन्य प्रेम **'ऊधो मन न भए दस बीस, एक हुतो सो गयो स्याम संग को अवराधे ईस'** करते हुए भी गोपियाँ कृष्ण की राह तकती रहती हैं, लेकिन मथुरा नहीं जातीं कारण उनके मन में ये टीस है कि कृष्ण उन्हें छोड़ के गए हैं तो मिलने भी वहीं आएंगे। गोपियाँ कहीं भी अपने आत्मसम्मान से समझौता नहीं करतीं। सूर की राधा प्रणय एवं समर्पण की प्रतिमूर्ति हैं।

उनके लिए **हरि हारिल की लकड़ी** के समान हैं उनकी **अँखियाँ हरि दर्शन की प्यासी** रहती हैं। ये यशोदा माता ही हैं जो प्रभु को भी सजा देते हुए ऊखल में बांध सकती हैं। उन्हीं के माध्यम से ब्रज का बाल साहित्य, बाल झाकियाँ, बाल लीलाएँ प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। सूर ने गोपियों की तन्मयता एवं प्रेमासक्ति में हृदय की रागात्मक अनुभूतियों का सजीव चित्रण प्रस्तुत करके नारी जाति के गौरव को उन्नतिशील बनाया है। कृष्ण के बाल–वर्णन से माता यशोदा के रूप में स्त्री के मातृत्व को सम्मानित किया है। उसी प्रकार रासलीला के प्रसंग में कृष्ण से प्रेम करने वाली गोपियों को घर से बाहर दौड़ती हुई दिखाकर सामंती व्यवस्था के बंधनों को तोड़ने का प्रयास किया है। विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार, **"घर का यह तोड़ना असामाजिक नहीं, सामाजिक नियमों की अमानवीयता, असामाजिकता को तोड़ना है।"**

तुलसीदास जी ने ब्रजभाषा में भी विनय पत्रिका, दोहावली, गीतावली और कृष्ण गीतावली की रचना की है। तुलसी ने नारी के आदर्श गुणों की भूरि–भूरि प्रशंसा की है और उन्हें समाज का गौरव सिद्ध किया है किन्तु जहाँ भी नारी उन्हें अपने वास्तविक पद से गिरती हुई दिखाई पड़ी है वहीं उन्होंने उसकी घोर निन्दा की है। तुलसी की पत्नी रत्नावली, जिसने उन्हें राम के वास्तविक महत्त्व से परिचित कराया था। तुलसी रत्नावली के इन शब्दों को कदाचित न भूले होंगे—**लाज न लागत आपको दोहरे आवहू साथ।** वे राम के प्रियजनों में समाज में उपेक्षित और निम्न कहे जाने वाली शबरी जैसे चरित्रों को दिखाते हैं। शूद्र शबरी के जूठे बेर खाते हुए राम को दिखाने में एक प्रकार से तुलसीदास ऊँच–नीच के भेदभाव को ही तोड़ना चाहते हैं। कमोबेश यही स्थिति अहिल्या प्रसंग में भी है जहाँ वे सामाजिक रूप से बहिष्कृत नारी को समाज में पुनःप्रतिष्ठा प्रदान कराते हैं।

इस संदर्भ में रामविलास शर्मा लिखते हैं कि **"तुलसीदास ने स्त्रियों के लिए उपासना के द्वार खोल दिये। राम से मिलने, उनका स्वागत सत्कार करने, उनका स्नेह पाने में स्त्रियाँ सबसे आगे रहती हैं। जितनी आत्मीयता तुलसी ने परस्पर ग्रामीण स्त्रियों और सीता में दिखायी है, उतनी राम, भरत या निषाद में भी नहीं दिखायी।"** और बहु पत्नी प्रथा दशरथ की तीन रानियों के कारण उत्पन्न स्थिति दर्शाकर बहु पत्नी प्रथा की हानियों का संकेत भी करते हैं। इतना ही नहीं, वे तो स्त्रियों की पराधीनता की पीड़ा को भी महसूस करते हैं—**"कत बिधि सृजी नारी जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं॥"** उसी प्रकार माता कौशल्या की पीड़ा को भी दर्शाते हैं। भक्तिकाल की एकमात्र स्थापित कवयित्री मीरा कृष्ण भक्ति में डूबकर पूरे सामंती

समाज, राज परिवार के सामने डट कर खड़ी हो जाती हैं। लेकिन टूटती नहीं, झुकती नहीं, दबती नहीं। नारी की स्थिति समाज में हमें रत्नावली के चरित्र में देखने को मिलती है। जो काव्य रचना में तो पारंगत थी ही पति को भी ललकार कर सत्मार्ग पर लाने की क्षमता रखती थीं—**"अस्थि चर्ममय देह यह तासों ऐसी प्रीति, नेकु जो होती राम से, तो कहे भव–भीत॥"**

मुगल शासक जनता का शोषण करते थे। ब्रज क्षेत्र चूँकि दिल्ली आगरा के बीच में था, इसलिए अधिकारी वहाँ से गुजरते थे, वे वहाँ की जनता पर अत्याचार करते थे–**"विद्रोही गाँवों में पहुँचने के बाद ये सेनानायक शाही आज्ञाओं का पालन कत्ल और सिर काटकर किया करते थे। अपनी सुरक्षा के लिए ग्रामीण कंटीली झाडियों में छिप जाते या अपनी कमजोर गढ़ियों में शरण लेते। स्त्रियाँ भाले और तीर लेकर अपने पतियों के पीछे खड़ी हो जातीं। जब पति अपने बंदूक को दाग चुका होता, पत्नी उसके हाथ में भाला थमा देतीं और स्वयं बंदूक को भरने लगती थीं।"** (**वीर गोकुल सिंह के जीवन चरित्र से**) भक्तिकाल में स्त्रियों का एक रूप यह भी था लेकिन स्त्रियों की इस रूप की चर्चा को पूर्णतः साहित्य चर्चा से बाहर निकाल दिया गया।

रीतियुगीन कवियों ने रूप–यौवन के आकर्षण की आंधी में नारी के रूप का ही वर्णन किया है, नारी ही रीतिकाल में कवि की समस्त भावनाओं का केंद्र है, परन्तु इन रीति कवियों में केशव, बिहारी, घनानंद, देव, मतिराम, सेनापति आदि को नारी का केवल कामिनी रूप ही प्रिय था। रीतिकाल के कवियों की दृष्टि केवल नारी के नख–शिख उसकी मांसल देह पर ही ठहरी थी **"सतरोही भौंहें, अलसाह चितवन तन की खरी निकाई"।**

रीतिकाल तक आते–आते सत्ताधारियों के पास विलास के पर्याप्त साधन हो गए थे जिससे उनका अतृप्त मन वासना पूर्ति में रत हो गया। इन सत्ताधारियों की इस विलासी वृत्ति का परिणाम ही था की रीतिकालीन कविता में राज्याश्रय में रहने वाले कवियों की दृष्टि नारी की तन यष्टि पर ही अटक गई। इसी को आधार बनाकर इन कवियो ने नायिका भेदोपभेद व नखशिख वर्णन पर अपनी प्रतिभा आजमाई। **"विलासता की प्रधानता व सामंतीय प्रभाव के कारण ही इन लोगों की सौन्दर्य भावना भी विषयीगत न होकर विषयगत रही है, नारी के बाह्य रूप के परिचायक अंगों की बुनावट में ही इनकी दृष्टि उलझी रही है, उसके आंतरिक गुणों तक नहीं पहुँच पायी है।"**

रीतियुग की प्रमुख प्रवृत्ति श्रृंगार और विलासिता की होने और नारी के केंद्र में होने के कारण नायिका भेद किया–जिसमें मुग्धा, प्रौढ़ा, स्वकीया, परकीया, अभिसारिका, वासकसज्जा, प्रोषितपतिका, आदि भेद करके स्त्री को साधन बनाकर अपना मनोरंजन किया। लेकिन यदि बारीकी से देखा जाए तो खंडिता, प्रौढ़ा आदि भी उस युग में स्त्री की शोचनीय दशा की अभिव्यक्ति है। उनके विलास के उपकरण के केंद्र में जो नारी है वह समाज की इकाई के रूप में नहीं आई वह मात्र विलासिता का उपकरण मात्र है। यहाँ पुरुष के भोग्य रूप के अतिरिक्त नारी का कोई स्वतंत्र अस्तित्व होगा ये कल्पना भी नहीं है। **"श्रृंगार रस को अभिव्यक्ति देने के लिए नारी को सौन्दर्य आवरण में युक्त कर पुरुष के मनोरंजन का साधन बना दिया गया। समस्त रीतिकालीन साहित्य पुरुष की दृष्टि से लिखा गया है। नायिका भेद में पुरुष का स्वार्थ उच्च पद पर अंकित है। नारी उसके विलास की सामग्री के रूप में चित्रित की गई है।"** किन्तु इस युग में नारी विषयक दृष्टिकोण कितना भी संकुचित क्यों न हो नारी मर्यादित रूप को भी अभिव्यक्ति मिली है। गृहस्थ जीवन को भी अभिव्यक्ति मिली है। स्वकीया और पारिवारिक जीवन की झांकी को भी चित्रित करने में कवि सफल रहे हैं। नारी के मन के भावों को भी अभिव्यक्ति मिली है–

बतरस लालच लाल कि मुरली धारी लुकाए।
सोंह कहे भोंहन हँसे, देंन कहे नाटि जाए॥ (**बिहारी सतसई**)
कहत नटत, रीझत, खिजत, खिलत, मिलत लजियात।
भरे भोन में करत है, नयन हीं सो बात॥ (**बिहारी सतसई**)

छेड़ी आपनों मौन तुम कौन–कौन के जात अथवा ते धनी जे ब्रजराज लखे गृहकाज करे अरुलाज संभारे॥ (**मतिराम सतसई**) में स्वकीया प्रेम की अभिव्यक्ति की गई है।

अब का समझवाति को समझै बदनामी के बीजन बोई चुकी री॥ (ठाकुर ग्रंथावली) कम ही सही लेकिन अनेक ऐसे दोहे मिलते हैं जहाँ नारी के आंतरिक भावों की अभिव्यक्ति के भी कुछ रूप हैं। भारतीय नारी के त्याग, धैर्य, शालीन, मर्यादित गुणों की वाहक नारी जो परिवार, पति को समाज में सम्मान दिलाए रखने के लिए अपने को भी भुला देती है–

गुरुजनो दूजो ब्याह को प्रतिदिन कहत रिसाई।
पति की पतराखे बधू आपन बांझ कहाए॥

अथवा बिहारी का ही एक अन्य दोहा देखिए–

कहत न देवर कि कुबल कुलतिय कलह डराती।
पंजरगत मँजार ढिग सुकलो सुकति जाती॥
कंत चौक सीमंत की, बैठि गांठि जुराए।
पेखि परोसिन कौं प्रिया, घूंघंट में मुस्काय॥
प्राणनाथ परदेस को चलियै समय बिचारि।
स्याम नैन घन बाल के बरसन लागे बारि॥

(मतिराम सतसई दोहा 399)

घूँघट पट की ओट दै चोट अचूक चलाई।
चंचल चखन चितई गई चितै गईल लचाई॥

स्त्री के गुणों को दर्शाते हुए छंद रीतिकाव्य में अवश्य मिल जाते हैं फिर भी प्रचुरता स्त्री के मादक सौन्दर्य को अभिव्यक्त करते छंदों की ही है।

आधुनिककाल (सन् 1900 से अब तक) शुरू हो गया था। देश की स्थिति करवट बदलने लगी। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के कारण भारतीय समाज की विचारधारा में कुछ परिवर्तन आया और पाश्चात्य साहित्य में वर्णित मानव–प्रेम ने भी इन कवियों को प्रभावित किया। अनेक समाज सुधारकों ने भारतीय नारी की पतनोन्मुख अवस्था को सुधारने का प्रबल समर्थन दिया। अयोध्या सिंह उपाध्याय ने अपने ग्रंथ रस कलश में नायिकाओं को समसामयिक संदर्भों के अनुकूल नया रूप देकर प्रस्तुत किया है। **बसि घर बार में बिसारे घर बारिन को** कहकर स्त्रियों की दशा का चित्रण किया है। इसी युग के जगन्नाथ दास रत्नाकर ने भी **उद्धव शतक** की रचना की जिसमें गोपियों और राधा की दशा का उल्लेख मिलता है। भारतेंदु जी ने स्त्री–शिक्षा के प्रचार हेतु **'बालबोधिनि'** नामक पत्रिका का प्रकाशन किया तथा नर–नारी समानता एवं नारी मुक्ति का नारा दिया। इस युग में कवियों ने इस बात पर बल दिया है कि नारी ही मानव एवं समाज का सुधार कर सकती है। इस विषय में रायदेवी प्रसाद पूर्ण की निम्न पंक्तियाँ हैं–**"नारी के सुधारे होत जग में प्रसिद्ध, नारी के संवारे होत सिद्ध धन बल है।"** आधुनिककाल में भारतेन्दु ने नारी को बंधन से निकालकर नीलदेवी जैसी क्षत्राणी के रूप में उसके व्यक्तित्व को स्वीकार कर उसे प्राणों की रागिनी एवं दीप्ति की प्रतिभा घोषित किया। भारतेन्दु की मुकरियों में व्यंग्य रूप में सामान्य व्यक्ति की प्रतिक्रिया, सामान्य–जीवन के बिम्ब पर आधारित रचना मिलती हैं–

सीटी देकर पास बुलावै, रुपया ले तो निकट बिठावै।

लै भागै मोहि खेलहि खेल, क्यों सखि साजन ना सखि रेल॥

भीतर–भीतर सब रस चूसैं, हंसि–हंसि तन मन धन सब मूसै।

जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन नहिं अंगरेज॥

कहकर जहाँ अंग्रेजों पर कटाक्ष किया है वहीं स्त्री पुरुष संबंध पर प्रकाश भी डाला है। **'पर्दे में कैद औरत की गुहार'** भारतेंदु जी की स्त्री चेतना की दृष्टि का अनुपम उदाहरण है–

लिखाए नहीं देत्यो, पढ़ाए नहीं देत्यो।

सन्या फिरंगिन बनाय नहीं देत्यो॥

लहंगा दुपट्टा नीका न लागे,

मेमन का गाउन मंगाय नाही देत्यो॥

वै गोरिन हम रंग सांवलिया,

नदिया पे बंगला छ्वाय नाही देत्यो॥

कब लग बैठी काढ़े घूंघटवा,

मेल तमासा जाय नाही देत्यो॥

लीक पुरानी कब लग पीटो,

नई रीत रसम चलाय नाही देत्यो॥

इसके साथ ही नारी के अनेक ऐसे चित्र भी हैं जो अपने को कृष्ण भक्ति में रंगकर अनेक इच्छाएँ रखती हैं–

सखी हम बंसी क्यों न भए।

अधर सुधा–रस निस–दिन पीवत प्रीतम रंग रए॥

कबहुँक कर में, कबहुँक कटि में, कबहूँ अधर धरे।

सब ब्रज–जन–मन हरत रहति नित कुंजन माँझ रहे॥

उद्धव प्रसंग पर भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने भी कलाम चलाकर गोपियों या यूं कहूँ कि नारी मन में बसते अनन्य प्रेम पर अपना पक्ष रखा है–

रहैं क्यौं एक म्यान असि दोय।

जिन नैनन मैं हरि–रस छायो, तेहि क्यौं भावै कोय।

जा तन मन मैं रहि रहै मोहन,

तहाँ ग्यान क्यों आवै।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के साथ–साथ उनके युग के एक प्रतिभाशाली लेखक कवि और विचारक बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन की कविता भी ब्रज भाषा में नारी दशा का चित्रण करते हुए उस पुरुष मानसिकता पर प्रकाश डालती है, जब पुरुष पढ़ लिख कर बाहर निकलता है तो गोरंगी अंग्रेज महिलाओं के आकर्षण में फंस कर अपने घर की नारी को भूल रहा था, उस स्थिति में घर की नारी को परेशानी का सामना करना पड़ता है। उस स्थिति को नारी के ही मुख से कहलाता है–

पिया के तो लिहलीं लोभाय, गोरी गोरिया॥

अँगरेजी पढ़ि गयनि बिलाइत, लौटत अवलैं लियाय गो।

काले साहेब भये निराले, अनमिल मेल मिलाय गो।

जूठ निवाले खाँय, पियाले मद के पियहिं, पियाय गो।

लोक लाज कुलकानि धरम धन, जग मुख दिहिसि नसाय गो।

बनि लंगूर बँदरिया के सँग, नाचहिं नाच रिझाय गो।

करजौ काढ़ि नहीं धन आँटै, सरबस देइ उड़ाय गो।

आधुनिक युग में बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन उस समय के समाज में प्रचलित कुरीति बाल विवाह की स्थिति पर भी ब्रज भाषा में लिखते हैं–

भौंरा चकई बहाय, गुल्ली डण्डा बिसराय, तनी नाचः इतराय, मोरे बारे बलँमू।

गोरी कहतौ सरमाय–मोरे बारे बलँमू। प्रेमघन अकुलाय, रस बिना बिलखाय,

कहै खिल्ली–सी उड़ाय, मोरे बारे बलँमू॥

बाल विवाह के साथ ही प्रेमघन जी अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह आदि कुरीतियों पर अपनी पैनी नजर डालते हैं–

नैहर में देबै बिताय बरु बिरथा बैस जवानी रामा!

हरि! हरि! का करबै लै ई छोटा सजनवाँ रे हरी!

बेचत गाय कसाई के कर! कोऊ हरकत नाहीं रामा!

बाला वृद्ध विवाह/प्रेमघन

बूढ़े प्रेमी सुजन प्रेमघन की मुनि सीख बिचारौ रामा।

हरि हरि "तजौ बुढ़ाई में तौ गड़बड़ झाला" रे हरी॥

कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक काल में स्त्री को थोड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा। इन कवियों ने राधा–कृष्ण के प्रेम को आदर्श–प्रेम बताकर उनकी

वंदना की है, साथ ही रीतियुगीन नायक–नायिका के श्रृंगार, काम विलास आदि की निंदा भी की है। **"भारतेन्दु युग से ही ब्रजभाषा साहित्य के लिए संघर्ष का समय प्रारम्भ हो जाता है क्योंकि प्रमुख रूप से गद्य साथ ही पद्य में भी खड़ी बोली हिन्दी प्रवेश कर लेती है और आगे ही आगे बढ़ती जाती है। ब्रजभाषा अपना सिंहासन खोने लगती है किन्तु पूर्णतः समाप्त नहीं होती।"** (डॉ. रामशरण गौड़, ब्रज भाषा का इतिहास) रायदेवी प्रसाद पूर्ण, रंगोपाल जी गोपाल, ब्रजेश जी महापात्र, रमेश रत्नाकार, संत नारायण सिंह, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, गिरधर शर्मा, श्याम बिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी, सैयद अमीर अली मीर, राजा राम सिंह, लाला किशन लाल, बलदेव सिंह, कविरत्न सत्यनारायण, रायकृष्ण दास, भगवान दत्त चतुर्वेदी, वियोगी हरि, हरी प्रसाद द्विवेदी ने उत्कृष्ट रचनाओं की ब्रज भाषा में रचना को। पुरुषोत्तम सैन्या, नाथुराम माहौर, राम प्रसाद त्रिपाठी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, रामेश्वर करूणा, उमाशंकर वाजपेयी, रमाशंकर शुक्ल रसाल, अमृत लाल चतुर्वेदी जी ने भी रचना कीं। बलदेव प्रसाद मिश्र 'श्रृंगार शतक', 'वैराग्य शतक' और 'श्याम शतक' नामक कृतियों की रचना की। जगतराम शर्मा शास्त्री ने सतसई परंपरा की रचना की राम दयाल, उमराव सिंह और अंबिकाप्रसाद भट्ट ने भी ब्रजभाषा की सेवा की, जिसमें स्त्री शिक्षा, बाल विवाह, वृद्ध विवाह दहेज प्रथा, षडऋतु वर्णन में स्त्री संबंधी पक्षों पर अपनी लेखनी चलकर नारी जीवन का चित्रण करते हुए उसको बेहतर बनाने की दिशा में कार्य किया।

यूं तो ब्रज गद्य में अनेक उपन्यास भी लिखे गए किन्तु "डॉ. गोपाल मुद्गल लिखित **कंचन करत खरौ** जी की **ब्रज शतदल** नामक राजस्थानी अकेडमी से प्रकाशित पत्रिका में 1989-90 में नवंबर से जनवरी और फरवरी से अप्रैल के दो अंकों में धारावाहिक के रूप में प्रकाशित हुआ।" यह नायिका प्रधान उपन्यास है। **"इसमें इनकी नायिका के त्याग, समर्पण, कर्मठता और निष्ठा तथा उसके पुत्र दिवाकर के जीवन संघर्ष, शुचिता और मानवीय दृष्टिकोणों का चित्रण किया गया है। वस्तुतः यह उपन्यास समाज और परिवार में नारी के महत्व को रेखांकित करता है। सन् 1992 में डॉ. श्याम सुंदर द्वारा रचित उपन्यास 'पसीजौ भयौ आंचर' भी प्रेम कथा पर आश्रित उपन्यास है।"** (ब्रज भाषा का इतिहास, डॉ. रामशरण गौड़) यूं तो चौरासी वैष्णव की वार्ता में भी कहानी लेखन के सूत्र मिलते हैं वास्तव में ब्रज भाषा कहानी का आगमन 1957 में आकाशवाणी दिल्ली के प्रकोष्ठ **ब्रज माधुरी** एवं 1960

में **आकाशवाणी मथुरा** की स्थापना से माना जाता है। जिसमें 1986 में टूटते रिश्तों को बचाने की जद्दोजहद भैया ने रुकबे को कही तथा समाज में नारी समस्या को लेकर **बाई ठौर** नामक उपन्यास राजस्थानी ब्रज एकदमी की पत्रिका ब्रज शतदल में प्रकाशित हुआ। रेणु चन्द्रा की कहानी **हॉस्टल चली जाऊँगी** लड़की के बाल मनोविज्ञान को दर्शाती है। 1988-89 में ब्रज शतदल ने दो कहानी विशेषांक निकाले साथ ही **जमुना जल** पत्रिका ने भी कहानी का एक अंक निकाला। जिसमें लगभग 31 कहानियाँ प्रकाशित हुईं–हिन्दी अकादमी हैदराबाद की त्रैमासिक पत्रिका **संकल्प** का भी ब्रजभाषा विशेषांक निकला। रामकृष्ण शर्मा ने स्त्रियों में साक्षरता का संदेश देने वाली कहानियाँ **गांम बारिन को न्याव,** बेहद प्रसिद्ध हुई। इसके अतिरिक्त नारी मन की व्यथा को प्रकट करने वाली मेवा राम कटारा की कहानी **दो पाटन के बीच** बाल विवाह और अनमेल विवाह की सामाजिक समस्या को लेकर **'ऊंट–बकरिया को मेल'** राम प्रकाश शर्मा की बूढ़ी अम्मा भी चरित्र प्रधान कथा है। किरण द्वारा रचित समाज में व्याप्त नारी अत्याचार और धर्म भीरुता को चित्रित करने वाली **पछतावे के आँसू** जिसका प्रसारण आकाशवाणी के केंद्र से हुआ। गोपाल प्रसाद मुद्गल की **फूटी चूरी अमर सुहाग** में बहु विवाह की प्रथा का विरोध किया गया है। भगवान सहाय पचौरी की कहानियों में नारी शोषण का विरोध और नारी शक्ति बोध की चेतना उनकी कहानी **कमली** में मिलता है। मेवाराम कटारा की **विधवा कौ ब्याह, निपूती, छोरिन की करज, और बिटिया का ब्याह** में स्त्री जीवन की अनेक समस्याओं को अभिव्यक्ति मिली हैं। डॉ. राजेन्द्र रंजन की **मांगो अम्मा,** प्रेमदत्त मिश्र–मैथिल की चाची, राधे श्याम लाल की **मिशरू और मिश्राइन** आदि कहानियों को इस क्रम में देखा जा सकता है। डॉ. उमा शंकर दीक्षित द्वारा लिखित **रननों भुआ, और रामकली भामी** बेहद प्रसिद्ध रेखाचित्र हैं।

हम कह सकते है कि ब्रजभाषा साहित्य के हर युग में महिलाएँ अपने पूर्ण रूप में विभिन्न पक्षों के साथ उपस्थित हैं। ये बात और है कि उनके सभी पक्षों पर चर्चा नहीं हुई विमर्श अभी बाकी है। वर्तमान आधुनिक समय में अकादमियों का दायित्व अभी काफी बढ़ गया है। उन्हें अधिक परिपक्वता से कार्य करना होगा। छात्र एवं विद्यालय स्तर पर ब्रज भाषा में लिखित रचनाओं कि प्रतियोगिताएं आयोजित करनी होंगी। अकादमियों से प्रकाशित पत्रिकाओं को समय बद्ध उत्तम क्वालिटी के पेपर पर निश्चित अवधि में प्रकाशित करना होगा। आकाशवाणी और टेलीविजन को भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करना होगा।

संदर्भ–

1. Evolution of Indian Culture by B.N. Luniya Page-438
2. मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास : ईश्वरी प्रसाद, 1948
3. स्त्री चेतना और मीरा का काव्य, पूनम कुमार पृ. 35
4. मीरा का काव्य, विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 49
5. परम्परा का मूल्यांकन, रामविलास शर्मा पृ. 80
6. भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य, शिव कुमार मिश्र, पृ. 266
7. हिंदी साहित्य का इतिहास, नगेन्द्र, पृ. 308
8. रीति कालीन काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, डॉ. वेंकटरमण राव, पृ. 332

आरंभिक आधुनिक काल का ब्रजभाषा साहित्य

—आशीष सिसोदिया

'ब्रज' या 'व्रज' शब्द का अर्थ है चरागाह। इस प्रकार पशु–पालन–स्थल चरागाह की यह भाषा है। "इसके अन्य नाम हैं—अन्र्वेदी, ब्रिजकी, माथुरी, भाषा, ग्वालियरी आदि। यह मथुरा, आगरा, अलीगढ़, धौलपुर, भरतपुर, ग्वालियर (पश्चिमी भाग) तक विस्तृत है।"[1] "उत्तर की ओर यह गुड़गाँव जिले के पूर्वी भाग तक बोली जाती है। उत्तर पूर्व की ओर इसका प्रसार बुलंदशहर, अलीगढ़, एटा, मैनपुरी, बदाऊँ, बरेली होते हुए नैनीताल के तराई–परगनों तक चला गया है। इसका केंद्र स्थान मथुरा है और वहीं की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है।"[2]

इसकी अनेक बोलियाँ हैं—गांववारी, ढोलपुरी, भरतपुरी, जादोबारी, सिकरबाड़ी, कठोरिया, डाँगी, माथुरी आदि। साहित्यिक दृष्टि से अतीत में यह अत्यंत समृद्ध रही है। सूर, तुलसी, बिहारी, घनानंद, पद्माकर, रत्नाकर आदि इसके प्रमुख कवि हैं। पर खड़ी बोली के विकास के साथ इसमें साहित्य–सर्जना अपेक्षाकृत कम होने लगी है। यह शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित है।

किसी भी बोली के भाषा बन जाने के अनेक कारण हैं, जैसे धार्मिक, राजनीतिक, भौगोलिक आदि। जहाँ तक ब्रज का संबंध है, यह धार्मिक कारण से महत्व प्राप्त कर भाषा बन गई है। इसका मुख्य केंद्र मथुरा है। "कृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण यह प्रदेश बहुत प्राचीनकाल से तीर्थ स्थान का पद ग्रहण किए हुए है। भक्ति से विह्वल होकर दूर–दूर के धर्मप्रवण यात्री बहुत पहले से ही इस प्रदेश की यात्रा करते रहे हैं और अपने भावों को इष्टदेव के सम्मुख, रागमयी भाषा में अभिव्यक्त करते रहे हैं। यही कारण है कि कविता रूप में ब्रजभाषा के तत्व बहुत प्राचीनकाल से मिलते हैं।"[3]

कुछ अलोचक इसे आमोद–प्रमोद, विलास की भाषा कहकर इसके महत्व को नकाराने का प्रयास करते हैं। आचार्य शुक्ल ने ब्रजभाषा गद्य का जन्म संवत् 1400 के लगभग माना है। इस हिसाब से ब्रजभाषा ने लगभग 600 वर्षों तक जन–मन के हृदय पर राज किया है। केवल यह कहकर कि रीति काल में यह नायक–नायिका के प्रेमालाप की भाषा थी, इसके महत्व को कम नहीं किया जा सकता। रीतिकाल में इस

भाषा ने दुखित–पीड़ित जनता के घावों पर मरहम का काम किया। जो इसमें केवल अश्लीलता का पक्ष देखते हैं उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि इसी भाषा में निस्वार्थ प्रेम, भक्ति और नीति की सरिता भी उसी वेग से बही है। घनानंद की पीर, बिहारी की रीति–नीति, पद्माकर की भक्ति, और भूषण की वीरता को इस भाषा के अतिरिक्त कहाँ स्थान मिल पाया था।

अब बात करते हैं भारतेंदु युग की तो यह भाषा यहाँ भी अपना पूर्ण प्रभाव रखती है। भारतेंदु युग के सभी कवियों ने प्रारंभ में साहित्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा से ही पदार्पण किया था। उनको साहित्य सृजन में और कोई भाषा रास ही नहीं आई। 19वीं सदी में ब्रजभाषा उपेक्षित खड़ी बोली के लिए उपादेय सिद्ध हुई क्योंकि उसे ही विद्वानों ने मुक्त हस्त से स्वीकार किया। भारतेंदु मंडल के सभी कवि ब्रजभाषा में ही लिख रहे थे। इधर अंग्रेजों की गुलामी थी उधर देश में कई समस्याओं का डेरा था। इस मंडल के कवि कैसे चुप बैठ सकते थे। ब्रजभाषा ही में वे अपनी बात सुलभता से कह सकते थे। चाहे प्रेम के चित्र हो, प्रकृति का वर्णन हो, देश–प्रेम की भावना हो, अंग्रेजों का विरोध हो या फिर समाज सुधार की भावना हो सभी की रचना में ब्रजभाषा को माध्यम बनाया गया।

भारतेंदु ने प्रेमतत्व की प्रधानता कुछ इस प्रकार व्यक्त की है–

देख्यो एक बारहू न नैन भरि तोहिं यातें।
जौन जौन लोक जेहैं तहां पछतायेंगी॥
बिन प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय,
देखि लीजौ आँखें ये खुली ही रहि जायंगी॥[4]

इनकी रचनाएँ प्रेम रस से भरी हुई हैं। लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार के प्रेम का इन्होंने बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। ईश्वर भक्ति का प्रेममय उदाहरण देखिए–

"छिपाये छिपत न नैन लगे।
उधरि परत सब जानि जात हैं घूंघट में न खगे॥"[5]

इन्हें एक भक्त–हृदय भी प्राप्त था–

"ब्रज के लता पता मोहि कीजै।" कहकर इनके ब्रज प्रेम को नकार नहीं सकते।

भारतेंदु ऐसे कवि थे जो एक–एक दिन में पुस्तक लिख डालते थे। इनकी कविताओं में प्राचीन और नवीन का अपूर्व समन्वय है। समाज की त्रुटियों को देखकर इन्होंने इस प्रकार उसकी आलोचना की–

रुचि बहुविधि के वाक्य पुरानन माहिं घुसाय।
सेव साक्त वैष्णव अनेक मत प्रकट चलाय॥
विधवा ब्याह निषेध कियो विभिचार प्रचार्यो।
रोहि विलायत गमन कूप–मण्डूक बनायो॥
औरनि को संसर्ग दुराइ प्रचार घटायो।
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर से सब विमुख किए हिन्दुन घबराई॥

भारत को दासता की बेड़ियों में जकड़ा देखकर ये करुणानिधान से पुकार करते हुए कहते हैं–

कहा करुणानिधि केशव सोये।
जागत नेकु न जगति बहु विधि भारतवासी रोये।
इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारत हित बिसराये।
इह के पशु जगत का आरत लखि आतुर प्यादे धाये॥[6]

भारतवर्ष का धन विदेश जाते देख इन्हें बहुत कष्ट होता था किंतु अंग्रेजी राज्य इनको दुःख देने वाला नहीं था–

अंग्रेज राज सुख साज, सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥

भारतेंदु करुणावान थे। करुणरस इनको प्रिय था। 'सत्य हरिश्चन्द्र' करुणरस से भरा हुआ है। रोहिताश्व को वाटिका में पड़ा हुआ देखकर कवि एक दम उद्विग्न हो उठता है–

जेहि सहसन परिचारिका, राखत हाथहिं हाथ।
सो सुत लोटत धूरि में, दास बालकन साथ॥[7]

खड़ी बोली का जैसा संस्कार भारतेंदु जी ने किया है वैसा ही उन्होंने ब्रजभाषा में भी किया। भाषा के क्षेत्र में भारतेंदु खड़ी बोली ब्रजभाषा के उन्नायक थे।

स्वच्छंदतावाद के प्रथम कवि श्रीधर पाठक ने भी अपनी भावनाओं को ब्रजभाषा में ही व्यक्त किया है। उन्होंने कई प्रसिद्ध पाश्चात्य साहित्यकारों की रचनाओं का खड़ी बोली और ब्रजभाषा में अनुवाद किया है। ये भारतीयों को अंग्रेजी साहित्य से अवगत कराना चाहते थे इसलिए इन्होंने गोल्डस्मिथ के रोमांटिक प्रेम काव्य **'द हरमिट'** के **'एकांतवासी योगी'**, **'द डर्सेटेड विलेज'** का **उजड़ग्राम** तथा **'द ट्रेवलर'**

का **'श्रांत पथिक'** नाम से अनुवाद किया। **उजड़ग्राम में** उन्होंने गाँव के उजड़ने और परिवर्तन के बड़े ही मार्मिक और कारुणिक चित्रण प्रस्तुत किए हैं। वे ब्रजभाषा में अनुवाद करते हैं–

हे प्यारे औबर्न सकल गामन सौं रूरे।
जहाँ श्रमी कृषकार बसे सुख सम्पत्ति पूरे।
जहाँ रसीली ऋतु बसन्त पहले ही आवत।
जान समय विलमाय फूल फल देर लगावत॥[8]

इनमें से इनकी रचना **'काश्मीर सुषमा'** में प्रकृति का वर्णन वे ब्रजभाषा में इस प्रकार करते हैं–

या सम दूजौ ठौर सृष्टि में दृष्टि न आवे।
यही स्वर्ग सुरलोक यही सुर कानन सुन्दर।
यहि अमरन को लोक यहीं कहुँ बसत पुरंदर॥[9]

ब्रजभाषा में उद्दीपन के दृष्टिकोण से किया हुआ शास्त्रीय प्रकृति वर्णन बहुत मात्रा में है, किंतु विशुद्ध प्रकृति उपासना के लिए किया हुआ काश्मीर का यह चित्रण अद्‌ितीय है।

हिंदी का संस्कार करने वाले आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी भी ब्रजभाषा के अच्छे जानकार थे। उन्होंने श्रीधर पाठक को हिंदी का अभिनव जयदेव कहा था। उनके देहावसान पर आचार्य जी ने ब्रजभाषा में कुछ पंक्तियाँ ब्रजभाषा में लिखी थीं–

जाकी कवित्व–पद–कोमलताऽधिकाई,
आबाल–वृद्ध–जन चित्त लियो चुराई।
सोई कवीन्द्र विजयी जयदेव आई,
लीन्ह्योऽवतार कह श्रीधर देह पाई।

ऐसे ही एक प्रमुख ब्रजभाषा प्रेमी साहित्यकार **श्री वियोगी हरि** थे। इनके बारे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा कि–"श्री वियोगी हरि ब्रजभूमि, ब्रजभाषा और ब्रजपति के अनन्य उपासक हैं। ऐसे प्रेमी रसिक जीव इस रूखे जमाने में कम दिखाई देते हैं। इन्होंने अधिकतर पुराने कृष्ण भक्त कवियों की पद्धति पर बहुत से रसीले तथा भक्ति भावपूर्ण पदों की रचना की है, जिन्हें सुनकर आजकल के रसिक भक्त भी बलिहारी हैं, यह कहे बिना नहीं रह सकते।"[10] इनकी प्रेमपथिक, प्रेमांजलि ऐसी ही

रचनाएँ हैं। **वीर सतसई** पर साहित्य सम्मेलन का **मंगला प्रसाद पुरस्कार** इन्हें प्राप्त हुआ। इस सतसई में भारत के वीरों की प्रशस्तियाँ है। एक उदाहरण प्रस्तुत है–

पावस ही में धनुष अब नदी तीर ही तीर।
रोदन ही में लाल दृग, नवरस ही में वीर॥

हरिऔध जी जब ब्रजभाषा से खड़ी बोली में आए तब वियोगी हरि ही ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि रह गए। इनके काव्य का मुख्य विषय भक्ति है किंतु इनकी भक्ति प्राचीन भक्तों की अकर्मण्य एवं अंधी तथा एकांगी आचारहीन भक्ति नहीं है। उनके लिए इष्टदेव समस्त संसार में रमा है। प्रत्येक प्राणी में उसकी सत्ता है, अतः प्राणि मात्र आदर प्रेम और श्रद्धा का पात्र है। वे परमात्मा को प्राप्त करने के लिए मंदिर जाने की आवश्यकता नहीं समझते–

माधव आज कहौं किन सांची।
क्यों हम नीचन तें हरि रूठे ऊँचन में मति रांची॥
हम सब के अघ देखि दुरे हौ किंधौं मंदिरन मांही।
जो पै हिये प्रेम कछु ह्वै हैं, तुम्हें खैंचि प्रभु लैंहैं॥[11]

इनके काव्य में वीर रस के स्थायी भाव उत्साह की व्याप्ति बहुत दूर तक दिखाई देती है। यहाँ तक की विरह–वीर की भी कल्पना अपने विरहिणी–ब्रजांगनाओं में की है। इन्होंने देश के महापुरुषों का गुण–गान एवं प्रभाव चित्रण तो किया ही है साथ ही आधुनिक युवक के फैशन एवं कायरता पर व्यंग्य वर्षा भी की है–

झूमत हैं जहँ मत्त ह्वै, सहज सूर दिन रैन।
लटकि लजीले खैल तह, मटकि नचावत नैन॥

युवकों के खोखलेपन को इन शब्दों में व्यक्त किया है–

जोरि नांव संग 'सिंह' पद करत सिंह बदनाम।
ह्वै हौ कैसे सिंह तुम करि सृगाल के काम॥

रत्नाकार के पश्चात् ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि 'वियोगी हरि' ही तो है। वियोगी हरि प्रेम, भक्ति, राष्ट्र एवं वीर रस के ब्रजभाषा के कवि हैं।

द्वारिका प्रसाद मिश्र भी ब्रजभाषा के अच्छे साहित्यकार रहे। आपने विशाल महाकाव्य **'कृष्णायन'** की रचना की। आपने लिखा–

जन्मेउ बन्दौ–धाम, जो जन जननी मुक्ति हित।
बंदहुँ सोइ घनश्याम, मैं बंदी बंदिनी–तनय॥[12]

'कृष्णायन' में कृष्ण संबंधी प्रत्येक घटना को मिश्र जी ने उकेरा है। बाल लीला वर्णन और भ्रमरगीत प्रसंग में मिश्र जी सूरदास से प्रभावित हैं। यशोदा के लिए कृष्ण जो संदेश देते हैं उसकी तुलना भ्रमरगीत से की जा सकती है–

जा दिन तें हम बिछुरे काहु न कह्यो कन्हैया।
कबहूँ प्रात न कियो कलेवा सांझ न दीन्हीं घैया॥

मिश्र जी भारतीय संस्कृति चिंतन से भी प्रभावित रहे हैं। नवीनता के नाम पर संस्कृति की बलि देने वालों के लिए मिश्र जी कहते हैं–

जिनहिं न धर्म न संस्कृति ज्ञाना।
जिनहिं गरल सम शास्त्र पुराना॥
जीवन–तरुहिं समूल विनाशी।
जे नव बीज वपन अभिलाषी॥

मिश्र जी स्पष्टतः कहते हैं कि वे परंपरा–प्रिय व्यक्ति हैं। वे कहते हैं कि परंपरा रूपी पैतृक संपत्ति को छोड़ा नहीं जा सकता–

परंपरा–प्रिय मति मैं पायी।
पैतृक संपत्ति तजि नहिं जायी।
करि तप ऋषिन लहेउ जो ज्ञाना।
भयेउ न आजहु सो निष्प्राणा॥

बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य श्यामसुंदर दास आदि ने जो हिंदी–गद्य का विकास किया है उसमें ब्रजभाषा का प्रभाव तो रहा परंतु प्रमुख रूप से खड़ी बोली के ही तत्व विकसित हुए। हिंदी साहित्य में सम्पूर्ण कृष्ण भक्ति से संबंधित काव्य ब्रजभाषा में ही है और अब भी प्रतिभा सम्पन्न कवि उसे बड़े चाव से अपनाते हैं। वास्तव में यह भाषा कृष्ण की लौनी की भाँति मधुर और प्रसाद–गुण सम्पन्न है।

संदर्भ–

1. डॉ. कन्हैयालाल शर्मा, हिंदी भाषा एवं नागरी लिपि का विकास, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1984, पृष्ठ–80
2. रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास बी.ए., इंडियन प्रेस प्रा.लि. प्रयाग, 1961, पृष्ठ–77-78
3. डॉ. रामनाथ, हिंदी भाषा का इतिहास, शब्दकार, दिल्ली, 1971, पृष्ठ–48

4. प्रो. वेदभानु आर्य और प्रो. सुरेशचंद्र भटनागर, चुने हुए कवि और लेखक, राजहंस प्रकाशन मंदिर, मेरठ, 1967, पृष्ठ–82
5. वही, पृष्ठ–82
6. वही, पृष्ठ–82
7. वही, पृष्ठ–84
8. आशीष सिसोदिया का शोधालेख, स्वच्छंदतावाद के प्रथम कवि श्रीधर पाठक, मधुमती, मार्च 2006, पृष्ठ–32
9. वही, पृष्ठ–32
10. प्रो. वेदभानु आर्य और प्रो. सुरेशचंद्र भटनागर, चुने हुए कवि और लेखक, राजहंस प्रकाशन मंदिर, मेरठ, 1967, पृष्ठ–82
11. वही, पृष्ठ–118
12. वही, पृष्ठ–160

साक्षात्कार

ब्रज के लता पता मोहि कीजै

–नंद किशोर पाण्डेय

आगरा जनपद, ब्रज क्षेत्र के अंतर्गत आता है, जहाँ पर केंद्रीय हिंदी संस्थान स्थापित है। संस्थान के यशस्वी निदेशक प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय हिंदी साहित्य के अंतर्गत भक्तिकाल के प्रतिष्ठित विद्वान हैं साथ ही आपका आदि काल में भी गहरा हस्तक्षेप है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर मैंने सोचा कि क्यों न प्रो. पाण्डेय का ब्रज साहित्य पर एक साक्षात्कार कर लिया जाये। मेरे इस साक्षात्कार संबंधी उत्कट अभिलाषा को प्रो. पाण्डेय ने स्वीकृति प्रदान की तत्पश्चात् मुझे ब्रज साहित्य पर प्रो. पाण्डेय का वृहद साक्षात्कार लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

प्रश्न 1. सर जिसे ब्रज कहते है उसका विस्तार कहाँ तक माना जाता है और इस ब्रज का अर्थ क्या है ?

उत्तर : ब्रज का अर्थ गायों के समूह से हैं। ब्रज को चौरासी कोस में फैला हुआ माना जाता है। इस क्षेत्र का प्रमुख स्थान मथुरा है। मथुरा 'मधुपुरी' और 'मधुरा' नाम से साहित्य में चर्चित है। मथुरा के आस–पास के पूरे क्षेत्र को मथुरा मण्डल कहते हैं। पुराणों ने मथुरा मण्डल की प्रशंसा और चर्चा बहुत की है। मथुरा और ब्रज धीरे–धीरे दो स्थान होने पर भी धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एकाकार हो गए। कभी यह क्षेत्र कई नामों से जाना गया। यह क्षेत्र ब्रह्मर्षि, शूरसेन, मध्यदेश और ब्रज मण्डल नाम से जाना गया। ब्रज के नामकरण को लेकर इस क्षेत्र की ऐतिहासिकता के संदर्भ में धार्मिक, सांस्कृतिक आचार्यों के साथ ही इतिहासकारों ने बहुत गंभीरता पूर्वक विचार किया है। विभिन्न संदर्भों को एकत्रित कर डॉ. सत्येन्द्र ने ब्रज का नामकरण और क्षेत्रफल के विषय में लिखा है–'मथुरा–मंडल शब्द का प्रयोग ब्रज' के आधुनिक प्रयोग से कहीं पुराना है। मेगस्थनीज के 'शूरसेन प्रदेश' के उल्लेख से अशोक–पूर्व में 'ब्रज–जनपद' के नाम का पता चल जाता है। उस काल में मथुरा शूरसेन–प्रदेश की राजधानी थी। उसके उपरांत जो उल्लेख प्राप्त होते हैं, उनसे यह प्रदेश मथुरा राजधानी के नाम पर मथुरा–मंडल कहलाने लगा, ऐसा प्रतीत होता है। यह नाम पुराण काल में विशेष विख्यात हुआ। पुराणों में 'माथुर–मंडल' अथवा मथुरा मण्डल प्रायः वही मंडल प्रतीत होता है, जिसे आज ब्रज–मंडल कहा जाता है। 'श्यूआन–चुआङ' भारत

में लगभग 635 ई. में आया था। उसने मथुरा राज्य का जो वर्णन किया है, उससे विदित होता है कि इस राज्य का विस्तार 5,000 ली (लगभग 833 मील) तथा उसकी राजधानी (मथुरा नगर) का विस्तार 20 ली (लगभग 3, 1/2 मील) था। कनिंघम के अनुसार तत्कालीन मथुरा–राज्य में वर्तमान 'वैराट' और 'अतिरंजी खेड़ा' के बीच का सारा प्रदेश ही नहीं, अपितु आगरा के दक्षिण में 'नरवर' और 'शिवपुरी' तक का तथा पूर्व में 'काली सिंध' नदी तक भू–भाग रहा होगा। इस प्रकार इस राज्य में मथुरा, आगरा जिले के अतिरिक्त भरतपुर, करौली और धौलपुर तथा ग्वालियर राज्य के उत्तर का आधा भाग शामिल रहा होगा। पूर्व में मथुरा राज्य की सीमा जिझौती से तथा दक्षिण में मालवा की सीमा से मिलती रही होगी।

हरिवंश पुराण में मथुरा के निकट के स्थान को व्रज कहा गया है। वाराह पुराण तक आते–आते मथुरा मंडल की सीमा को चौरासी केस तक माना जाने लगा था। ब्रज क्षेत्र के विस्तार के संबंध में एक दोहा प्रसिद्ध है जिसमें ब्रज का क्षेत्र बताया गया है–

"इत बरहद उत सोनहद, उत सूरसेन को गाँव।
ब्रज चौरासी कोस में, मथुरा–मंडल माँह॥"

प्रश्न 2. सर, ब्रज की महत्ता का आधार क्या है ? क्यों ब्रज इतना पवित्र और महत्वपूर्ण है ?

उत्तर : पीयूष, जी यह प्रश्न बहुत बड़ा है। कोई भी स्थान या व्यक्ति एक कारण से महत्वपूर्ण नहीं होता। कभी–कभी कोई एक कारण इतना प्रभावी हो जाता है कि वह स्थान या व्यक्ति चर्चा में आ जाता है। ब्रज के संदर्भ में बात की जाए तो उस पर केवल एक कारण प्रभावी नहीं होता। वैदिक साहित्य के भाष्यकारों ने यह बताया है कि वेदों में इस स्थान और यहाँ की सुन्दर गायों का वर्णन है। ब्रज की पवित्रता और सौंदर्य का वर्णन पुराणों में है। मध्यकाल के कवियों ने पूरे ब्रजमंडल को 'भक्ति' और 'शृंगार' के साथ वर्णित किया। ब्रज के घाट, यमुना की पवित्रता और ऋषियों की तपस्या के कारण पावन हुए। जैन और बौद्ध संप्रदायों का संबंध भी ब्रज क्षेत्र से है। भगवान ऋषभदेव तथा अन्य तीर्थंकार श्री सुपार्श्वनाथ और तेइसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ का आगमन भी इस पवित्र स्थान पर हुआ था। जैन मत के अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी भी मथुरा आए थे। 'विनय पिटक' में मथुरा का वर्णन है। महाजन पदों में शूरसेन की गणना होती है। यह ब्रजमंडल का ही एक नाम है। 'पालि' भाषा के ग्रंथ 'अंगुत्तर निकाय' में शूरसेन जनपद का नाम आता है।

भारत का प्रत्येक हिंदू सप्तपुरियों का दर्शन करना चाहता है। सप्तपुरियों में एक मथुरा भी है। महाभारत में अनेक कथाओं और प्रसंगों के माध्यम से श्री कृष्ण और पूरे

ब्रजक्षेत्र का वर्णन मिलता है। व्यास जी ने सभापर्व में लिखा है–दान, चतुरता, शौर्य, लज्जा, श्रेष्ठ, बुद्धि, विनम्रता, श्री, धैर्य, संतोष और पुष्टि–यह सब कुछ कृष्ण में विद्यमान है। इसलिए लोक संपन्न आचार्य पालक, पूज्य अर्घ देने के योग्य और पूजा के योग्य श्री कृष्ण की पूजा करना सबके लिए उचित है। श्री कृष्ण के पूजित होने के साथ ही उनके जन्म और उनकी लीला स्थली सब कुछ पूज्य और पवित्र हो गए–

"दानं दाक्ष्यं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा।
संनतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताऽच्युते॥
तमिमं लोकसंपन्नमाचार्यं पितरं गुरुम्।
अर्घ्यं मर्चितमर्चार्हम् सर्वे संक्षंतुमर्हथ॥"

प्रश्न 3. सर आपने कहा कि ब्रज से बौद्धों और जैनों का भी संबंध रहा है। इस संबंध में थोड़ा और विस्तार से बताइए ?

उत्तर : पालि और अपभ्रंश साहित्य में जैन आचार्यों द्वारा इस क्षेत्र का वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से वृहत्कल्पसूत्र, निशीथ सूत्र, ठाणांग सूत्र, वृहत्कल्प भाष्य, आदि ग्रंथों में जैन धर्म से मथुरा के जुड़े होने का वर्णन मिलता है। जैन सूत्रों से पता चलता है कि उनके अनेक संत, साधु–संन्यासी वहाँ विहार करते थे। जैन साधुओं ने यहाँ चैत्य का भी निर्माण करवाया था। जैन ग्रंथों में मथुरा को 'उत्तरापथ' का महत्वपूर्ण नगर बताया गया है। जैन सूत्रों में ही मथुरा में 'रत्नस्तूप' होने का वर्णन मिलता है। इस स्तूप को देव निर्मित कहा गया है। बौद्धों ने भी इस स्तूप पर अपना दावा किया था। जैनों और बौद्धों के बीच इस स्तूप के दावे को लेकर छः महीने तक विवाद चला था। बाद में यह स्तूप जैन संघ का हो गया। प्राचीन जैन साहित्य में मथुरा निबंध में 'जगदीश चंद्र जैन' ने मथुरा में जैन धर्म के प्रभाव का उल्लेख करते हुए तथा बौद्धों के साथ हुए विवाद को चर्चा करते हुए लिखा है–'वृहत्कल्पसूत्र भाष्य (6/6275) से मालूम होता है कि एक बार कुछ साध्वियाँ और श्राविकाएँ इस स्तूप की पूजा के लिए जा रही थीं कि उन्हें बौद्धिक चोर भगा कर ले गये।'

मथुरा में जैन धर्म का बड़ा प्रभाव था, जिसके फलस्वरूप मथुरा नगरी में जो नये गृहों का निर्माण होता था; उनके आलों (उत्तरंग) में मंगलार्थ 'अर्हंत–प्रतिमा' स्थापित की जाती थी, अन्यथा उन घरों के गिर जाने की शंका रहती थी। इस प्रकार के 'मंगलचैत्य' मथुरा नगरी और उसके आसपास के छियानवें ग्रामों (ग्रामार्ध) के घरों और चौराहों पर बनाये जाते थे।

बौद्ध धर्म का एक बड़ा प्रचार केंद्र मथुरा रहा है। बुद्ध के प्रिय शिष्य सारि पुत्र की साधना स्थली मथुरा थी। इसी नगर में बौद्ध धर्म के प्रचारक महाकात्यायन ने प्रवज्या

ग्रहण की थी। उनकी शिष्या भ्रदाकपलानी ने भी यहाँ बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए कार्य किया। भद्राकपलानी के पति महाकश्यप ने भी प्रवज्या ग्रहण की थी। महाकश्यप बौद्ध धर्म के वे व्यक्ति थे जो भगवान बुद्ध के प्रमुख उत्तराधिकारी बने थे तथा वे संघ के अध्यक्ष भी हुए थे। सर्वविदित है कि अशोक ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था। 'द्वितीय बुद्ध' उपगुप्त (मोग्गलपुत्र तिस्स) भी मथुरा के थे। अशोक को इन्होंने ने ही बौद्धधर्म में दीक्षित किया था। अशोक के कारण बौद्ध धर्म अनेक देशों में फैला। अशोक के पुत्र और पुत्री भी बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए सिंघल गए। बौद्ध धर्म के प्रचार में महासांघिक सम्प्रदाय की बड़ी भूमिका है। इसकी शुरुआत मथुरा से हुई। संघपति महादेव ब्राह्मण थे जिन्होंने बाद में बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। संघपति महादेव की गिनती भगवान बुद्ध के उत्तराधिकारियों में होती है। फाह्यान ने मथुरा के विषय में लिखा है। ह्वेनसांग के समय भी मथुरा में बौद्ध धर्म व्यापक रूप से प्रचारित था। ह्वेनसांग और फाह्यान के अलावा बहुत से विदेशी विद्वानों ने मथुरा के विषय में लिखा है। श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने विदेशी यात्रियों के संदर्भ में मथुरा के विषय में लिखा है–

'श्यूआन्–चुआङ्' का वर्णन मथुरा की धार्मिक स्थिति का अच्छा दिग्दर्शन कराता है। सातवीं शती के पूर्वार्ध में भी यहाँ बौद्ध–धर्म का अच्छा प्रचार था, पर फाह्यान के समय (ई. 400) को देखते हुए अब यहाँ के बौद्ध मतावलंबियों की संख्या में कमी आ गई थी। फाह्यान ने मथुरा के बीस बौद्ध संघारामों का उल्लेख किया, जिनमें लगभग 3,000 बौद्ध सन्यासी रहते थे। श्यूआन् चुआङ के समय यहाँ संघों की संख्या तो उतनी ही रही पर बौद्ध सन्यासियों की संख्या घटकर 2,000 के ही लगभग रह गयी। मथुरा में बौद्ध धर्म की क्रमशः अवनति का प्रधान कारण यही प्रतीत होता है कि हिंदू–धर्म की यहाँ उन्नति हो रही थी। हुएनसांग ने मथुरा के पाँच बड़े हिंदू मंदिरों का उल्लेख किया है, जिनमें बहुत से पुजारी थे।

बौद्ध और जैन धर्म दोनों मथुरा में पल्लवित ओर पुष्पित हुए। बौद्धों की बड़ी शाखा महायान का यहाँ से प्रारंभ होना बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार और मजबूती को बताता है। अलबरूनी ने विस्तार पूर्वक मथुरा का वर्णन किया है। अन्य मुस्लिम इतिहासकारों ने भी मथुरा का वर्णन किया है।

प्रश्न 4. सर, जब हम ब्रज कहते हैं तो हमारे मन में बहुत सारे घाट, पहाड़ियाँ, वृक्ष, पशु तथा पक्षियों के नाम मानस में घूमने लगते हैं। ब्रज की प्रतिष्ठा की ऐसी कौन–सी जगहें हैं ?

उत्तर : देखिए, ब्रज का पूरा क्षेत्र ही पवित्रता का वाचक है। फिर भी ब्रज क्षेत्र में वे चीजें और स्थान जिनकी चर्चा अधिक होती है या होनी चाहिए उनकी मैं बात करूँगा।

ब्रज में कुछ पहाड़ियाँ है जो अपने सौन्दर्य और पवित्रता से जुड़ी हुई हैं। आबादी बढ़ने और जंगलों के कटने के कारण सौंन्दर्य में कमी आयी है परन्तु पावनता का बोध वही है। मथुरा शहर से कुछ दूरी पर गोवर्धन पहाड़ी है। ये आकार–प्रकार में बहुत बड़ी नहीं है। फिर भी इसे गिरिराज कहते है। गोवर्धन कभी पर्वत कहा जाता था मगर आज पहाड़ी कही जाती है। यह बहुत सुन्दर पर्वत था। आचार्यों और कवियों ने भी गोवर्धन के सौंन्दर्य की तथा उसकी पवित्रता का वर्णन किया है। श्री कृष्ण ने अपनी उँगली पर उस पर्वत को उठाकर ब्रजवासियों की रक्षा की थी।

ब्रज में बरसाना की पहाड़ी भी आराध्य है। राधिका जी यहाँ की थीं। इस पहाड़ी के ऊपर राधिका जी का सुंदर मंदिर बना हुआ है। भक्त कवियों की रचनाओं में बरसाना का वर्णन बार–बार मिलता है।

ब्रज के नन्दगाँव ग्राम में नन्दगाँव की पहाड़ी है। इसे 'रुद्रगिरि' या 'नन्दिश्वर' भी कहते हैं। इस पहाड़ी के चारों ओर नन्दगाँव बसा हुआ है। मथुरा जिले के छाता तहसील में 'चरण पहाड़ी' है, भक्तों की मान्यता है कि यहाँ श्री कृष्ण के चरण चिह्न हैं। राजस्थान के 'कामबन' नामक स्थान में कामबन की पहाड़ी है। यह स्थान भी ब्रज क्षेत्र में आता है इसे 'कामगिरि' भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त ब्रज में बहुत से टीले हैं जो बहुत प्रसिद्ध हैं, इनका ऐतिहासिक और पुरातात्विक महत्व है। ये टीले हैं– सप्तर्षि टीला, जेल टीला, गोकर्णेश्वर टीला, भूतेश्वर टीला, चौबारा टीला, कंकाली टीला आदि। ब्रज क्षेत्र में बहुत से सरोवर भी हैं जो गंगा के नाम से प्रसिद्ध हैं जैसे मथुरा में कृष्ण गंगा, गोवर्धन में मानसी गंगा कामबत में पांडव गंगा आदि। ब्रज क्षेत्र में बहुत से जलाशयों और कुंडों की चर्चा होती है। भक्तों के लिए ये जलाशय और कुंड बहुत महत्वपूर्ण हैं। कई झीलें प्रसिद्ध हैं। 'ब्रजवस्तु वर्णन' में ब्रज के कुंड बताए गए हैं–

"उनसठ ऊपर एक सौ, सिगरे ब्रज में कुंड।
चौरासी कामा लखौ, पचहत्तर ब्रज झुंड॥
औरहिं कुंड अनेक हैं, ते सब नूतन जान।
कुंड पुरातन एकसौ, उनसठ ऊपर मान॥"

ब्रज क्षेत्र में 'बारह बन' प्रसिद्ध है। इन वनों और उपवनों का वर्णन संस्कृत और हिंदी दोनों भाषाओं के साहित्य में मिलता है। इन्हीं वनों में वृंदावन भी है। भागवत में वृंदावन का वर्णन है–

"वृंदाबन गोबर्धनं यमुना पुलिनानि च।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयेर्नृप॥"

अन्य बन है मधुबन, तालबन, कामबन, बहुलाबन, खिदिरबन, भद्रबन, भाण्डीरबन, बेलबन, महाबन तथा लोहबन। ब्रज में सोलह घाटों का वर्णन आता है। 'ब्रजवस्तु वर्णन' में कवि 'जगत नन्द' ने इन घाटों का वर्णन किया है। ये घाट हैं– ब्रह्मांड घाट, गोघाट, गोविंद घाट, ठकुरानी घाट, यशोदाघाट, उतरेश्वर घाट, बैकुंठ घाट, विश्रांतघाट, प्रयागघाट, बंगाली घाट, रामघाट, केशीघाट, विहारघाट, चीरघाट, नंदघाट, गोपी घाट। जगत नन्द की पंक्तियाँ है–

"ब्रज में सोलह घाट हैं, लखो घाट ब्रह्मांड।
गऊघाट, गोविंद कौ घाट जु बन्यौप्रचंड॥
अरु ठकुरानी घाट हैं, घाट जसोदा देखि।
उतरेश्वर घाट है, घाट बैकुंठ कौ पेखि॥
घाट एक विसरांत कौ, अरु प्रयाग कौ घाट।
घाट बंगाली देखियै, रामघाट कौ पाट॥
केसीघाट, बिहारि लखि, चीरघाट, नन्दघाट।
गोपीघाट विचारि लै 'जगतनंद' इहि बाट॥
औरहु घाट अनेक हैं, सो सब नूतन जान।
घाट पुरातन सोलहै, 'जगतनंद' मनमान॥"

इन वनों के अलावा वृंदावन में चौबीस उपवन हैं इसका भी वर्णन साहित्य में मिलता है। सबसे बड़ी बात ब्रज के सौंदर्य, पवित्रता, प्राचीनता और ऐतिहासिकता के लिए यमुना नदी है। यमुना के बिना मथुरा और ब्रज का सांस्कृतिक धार्मिक ऐतिहासिक इतिहास अधूरा है। पूरे ब्रज क्षेत्र में यमुना सबसे महत्वपूर्ण नदी है। यमुना गंगा की तरह ही यमुना एक संस्कृति है। पुराणों के अनुसार ये सूर्य की पुत्री है और यमराज की बहन है। श्रीकृष्ण को यमुना का पति माना जाता है। पूरे देश में यमुना नदी यमुना माता या यमुना मईया के नाम से जानी जाती है। यमुना सहस्रनाम भी लिखा गया है। यमुना सहस्त्रनाम में यमुना की हजार नामों से वंदना की गई है। ब्रज संस्कृति कृष्ण के साथ ही यमुना से जुड़ी हुई है। ब्रज के सभी कवियों ने यमुना को केंद्र में रखकर कविताएँ लिखी हैं। यमुना ने हजारों वर्षों में अपने प्रवाह को थोड़ा–थोड़ा करके कई बार परिवर्तित किया है। ब्रज क्षेत्रों में अनेक प्रकार के वृक्ष पाए जाते है। ये वृक्ष अन्य स्थानों पर भी मिलते है फिर भी कुछ का नाम लेना आवश्यक है जैसे–अगस्त्य, अमलतास, अशोक, करील, कनेर, कमरख, इन्द्रजौ, खिरनी, गूलर, छोंकर, कैथ, झाउ, तमाल,

ढाक, नीम चमेली, पापड़ी, पारस पीपर, फरास, पीलू, बकायन, बहेड़ा, बाय बिडंग, मौलश्री, रीठा, लसोड़ा, शहतूत, सिहोड़, सेमर, हिंगोट आदि।

'ब्रज वस्तु वर्णन' में जगतनन्द ने दस प्रसिद्ध वट वृक्षों का नाम स्थान सहित लिया है। जगतनन्द की यह कविता वृक्षों के संरक्षण की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इसके साथ ही इन वृक्षों की प्राचीनता का भी पता चलता है और लोगों के मन में उनके प्रति एक आदर का भाव भी उत्पन्न होता है। ये दस वट वृक्ष है–

"पिपरौली वट, जाव वट, रासौली वट जानि

अक्षय वट, संकेत वट परासोलि वट मानि

बंसीवट, भांडीर वट, विसाल वट अरु श्याम

ये दस वट ब्रजभूमि में, 'जगतनंद' के धाम॥"

आगरा शहर ब्रज क्षेत्र में ही आता है। तमाल के वृक्षों की चर्चा ब्रज के संदर्भ के रूप में खूब हुई है। आज लगभग पच्चीस किमी. लंबाई और इतनी ही चौड़ाई के क्षेत्र में फैले हुए इस शहर में केवल एक तमाल का वृक्ष है। पंडित विद्यानिवास मिश्र जी जिस भवन में रहते थे उसके सामने एक विशाल तमाल का वृक्ष है जो बचा हुआ है। मैंने दो साल तक आगरा के दर्जन भर से अधिक नर्सरियों में जाकर केंद्रीय हिंदी संस्थान में लगाने के लिए तमाल का पौधा ढूंढा लेकिन मिला नहीं। कई नर्सरी वाले तो नाम ही नहीं जानते। एक दो ने कहा कि सर इसका पेड़ बहुत बड़ा होता है, और किसी काम में भी नहीं आता है। कौन इसे लगाए? आज मैं सोचता हूँ कि इस उपयोगितावादी दृष्टि से पेड़–पौधे कैसे बचेंगे? मैंने तो यह पढ़ा है कि–

"अमंत्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम्"

निश्चित रूप से इसका भी कुछ न कुछ औषधिय उपयोग होगा। लोग इसके उपयोग से अंजान हो गए हैं। यमुना तट पर तमाल वृक्षों की पंक्तियों को 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' ने देखा था–

"तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।"

बहु छाए की जगह पर अब देखने और दिखाने के लिए भी तमाल नहीं बचे। 'परमानन्द दास' ने कुछ इस तरह से तमाल को याद किया है–

"हेमलता 'तमाल' अवलंबित, सीस मल्लिका फूली हो।

कुंचित केस बीच अरुझाने, जनु अलि–माला भूली हो॥"

कदम्ब के वृक्ष ब्रज की शोभा है। ब्रज में कई प्रकार के कदंब मिलते हैं, ब्रज के कदंब वृक्षों में 'द्रोण कदंब' भी है। इसके पत्ते दोनों ओर से मुड़े हुए होते हैं। ब्रज के वृक्षों के साथ ही साथ पशु–पक्षी भी पवित्रता के द्योतक हैं। इस क्षेत्र में शाकाहार की प्रमुखता है। गाय तो पूरे हिंदू धर्मावलंबियों के लिए पवित्र है। कृष्ण के साथ जुड़ने से इसकी पवित्रता और देवत्व में और अधिक वृद्धि हुई है। भगवन श्री कृष्ण गोवर्धनधारी हैं। जनता गोवर्धन की परिक्रमा करती है। कृष्ण गोपाल है इसलिए गोपालन हमारा सामाजिक और आर्थिक ही नहीं धार्मिक कर्तव्य भी है। गाय के अतिरिक्त पक्षियों में मयूर का वर्णन संपूर्ण ब्रज साहित्य में मिलता है। मयूर पक्षी न होकर कृष्ण के मोर मुकुट धारण करने के कारण पूज्य पक्षी बन गया। अन्य पक्षियों में नीलकंठ, पपीहा, चकवा–चकवी, चकोट, खंजन, कोयल, मैना, गौरैया, उल्लू, बगुला, आदि प्रमुख पक्षी हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी एक कविता में ब्रज के पक्षियों का नाम स्मरण किया हैं–

"कूजत कहुँ कल 'हंस', कहूँ मज्जत 'पारावत'।

कहुँ 'कारंडव' उड़त, कहूँ 'जल कुक्कुट' धावत॥

'चक्रवाक' कहुँ बसत, कहूँ 'बक' ध्यान लगावत।

'सुक पिक' जल कहुँ पिवत, कहूँ भ्रमरावलि धावत॥

कहुँ तट पर नाचत 'मोर' बहु, रोर विविध पच्छी करत।

जल–पान न्हान करि सुख भरे, तट सोभा सब जिय धरत॥"

प्रश्न 5. ब्रज और रासलीला का बहुत घनिष्ठ संबंध है। आप रास और रासलीला को किस तरह से समझते हैं और व्याख्यायित करते हैं?

उत्तर : देखिए, शास्त्रों ने कहा है कि 'रसो वै सः' यानि परमात्मा स्वयं रस है। रस का अर्थ आनंद भी होता है। यह रास रस से बना है। रसों का समूह रास है। 'रसा नाम समूहों रासः'। रास में श्री कृष्ण की लीलाओं की रसात्मक प्रस्तुति होती है। यह विभिन्न कलाओं की समवेत प्रस्तुति है। रासलीला के मूल में कृष्ण और ब्रज की बालाओं की लीला है। इस लीला की कलात्मक और रसात्मक प्रस्तुति रासलीला है। रासलीला में कृष्ण द्वारा मथुरा और ब्रज में की गयी लीलाओं का अनुकरण किया जाता है और उसकी नाट्य रूप में प्रस्तुति की जाती है। इसलिये इसे रासलीलानुकरण भी कहा जाता है। लोक में जो कुछ भी होता है उसका अनुकरण या अनुकीर्तन करते हुए नाट्य में उसकी प्रस्तुति होती है। भक्त कृष्ण की लीलाओं का अनुकरण कर उसकी प्रस्तुति करते हैं। यह प्रस्तुति रसानुभूति के लिए भी है और आत्मानुभूति के लिए भी होती है। इसलिए रास के साथ धार्मिक जुड़ाव हो जाता है। रासलीला का

संबंध कृष्ण भक्ति के आचार्यों ने शाश्वत नृत्य के साथ किया है। शिव का नृत्य शाश्वत नृत्य है। उनके डमरू के ध्वनि से निकलने वाली आवाज शाश्वत ध्वनि है। सम–विषम विभिन्न रूपों में और गति से चलने वाला ताण्डव और लास्य प्रकृति का शाश्वत रूप है। रासलीला में कृष्ण और राधा के माध्यम से इस शाश्वत रूप का प्रकटीकरण होता है। कृष्ण परमात्मा है, राधा तथा अन्य गोपियाँ जीव है। वृंदावन में आत्मा और परमात्मा का मिलन होता है।

कृष्ण से संबंधित वैष्णवों के भी अनेक मत हैं। एक मत के अनुसार जीवनलीला में परमात्मा के साथ खेलते है यानी गोपिकाएँ रासलीला में कृष्ण के साथ क्रीड़ा करती हैं। 'बल्लभ संप्रदाय' में राधा स्वकीया है लेकिन 'सूरदास' जिस लीला का वर्णन करते हैं उसमें गोपियाँ कुछ मर्यादा, वेद की आज्ञा, पुत्र, पति आदि का स्नेह, घर की लज्जा आदि का परित्याग करके कृष्ण की मुरली सुनते ही दौड़कर आती हैं इससे तो लगता है कि ये परकीया हैं। 'महाभारत' और 'पुराणों' में कृष्ण की पत्नी के रूप में राधा का नाम नहीं आता। 'चैतन्य सम्प्रदाय' में राधा परकीया है। राधा के स्वकीया और परकीया पक्ष को लेकर बहुत विचार हुआ है। रासलीला में कृष्ण संग गोपियाँ नृत्य करती हैं। भक्ति की प्रबल धारा का प्रवाह सांसारिक दुःखों से दूर ले जाता हैं। भक्त के आलौकिक रस की प्राप्ति होती है। सांसारिक दुःखों से निवृत्ति और पारलौकिक आनंद की तरफ प्रवृत्ति रासलीला का उद्देश्य है। अलग–अलग आनंद की अपेक्षा रखने वालों को रासलीला आकर्षित करती है।

रासलीला का वर्णन ब्रज में कवि के वर्णन का मुख्य विषय भी रहा है। रासलीला को सब देखते हैं। शिव, शारदा, नारद, गंधर्व, किन्नर सभी इस रासलीला के द्रष्टा हैं। देवांगनाओं को मलाल है कि काश हम भी ब्रजबाला होती तो कृष्ण के साथ रासलीला में भाग लेतीं। रासलीला के चरमोत्मर्ष पर पहुँचते ही एक साथ सोलह हजार गोपियाँ द्रुत गति से नृत्य करती हैं और सभी को कृष्ण अपने साथ दिखाई देते हैं। सूरदास ने उस रासलीला के व्यापकत्व का और अनुभूति का पूरे ब्रज को समाहित करते हुए बहुत सुंदर वर्णन किया है। उसमें केवल गोप–गोपी ही नहीं अपितु पूरा ब्रज समाहित है। जीवात्मा का संपूर्ण सृष्टि को समाहित करते हुए सम्मोहन नृत्य की काव्यात्मक प्रस्तुति ब्रजभाषा के शिखर कवि सूरदास ने कुछ इस प्रकार की है–

"मानों माई, घन–घन–अंतर–दामिनि।
घन दामिनि, दामिनि घन अंतर, सोभित हरि–ब्रज–भामिनि।
जमुना–पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद सुहाई जामिनि।
सुंदर ससि गुन रुप राग निधि, अंग–अंग अभिरामिनि।

रच्यौ रास मिलि रसिक राइ सों, मुदित भई गुन–ग्रामिनि।
रुपि निधान स्यामसुन्दर घन, आनंद मन बिस्त्रामिनि।
खंजन, मीन, मराल हिरन, छबि, भाइ भेद गज–गामिनि।
को गति गुनै 'सूर' स्याम सग, काम बिमोह्यौ कामिनि॥"

प्रश्न 6. सर, ब्रज, कृष्ण, रास और पूरे मथुरा मंडल या ब्रजमंडल से जुड़ा हुआ चित्रांकन पूरे उत्तर भारत में दिखाई देता है। इसको आप किस प्रकार से देखते हैं?

उत्तर : मथुरा कृष्ण से संबंधित ही नहीं अपितु बुद्ध से संबंधित मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध है। 'वासुदेव शरण अग्रवाल' ने लिखा है कि–'कला की दृष्टि से पहली–दूसरी शताब्दी का समय मथुरा का स्वर्णकाल माना जाता है। इस समय की कला ने नवनिर्माण की अद्भुत शक्ति प्रदर्शित की। कुषाणकालीन शिल्पकला में नेत्र और मन दोनों को प्रसन्न करने की अद्भुत क्षमता और पर्याप्त सामग्री है। तक्षशिला से पाटलीपुत्र तक का प्रदेश कुषाण सम्राटों के राज्य विस्तार या राजनैतिक प्रभाव के अंतर्गत था। मथुरा उस प्रभाव का सबसे बड़ा मध्यवर्ती केंद्र था।' मथुरा की कला सबसे पहले बुद्ध की मूर्तियों के निर्माण में विकसित भी हुई और चरम पर भी पहुँची। बुद्ध की मूर्तियों को लेकर प्राचीनता के सवाल पर बहस है। कुछ विद्वान गांधार शैली को प्राचीन मानते हैं कुछ मथुरा की कला को। खैर बात जो भी हो मथुरा वालों ने बुद्ध की कलात्मक मूर्तियाँ बनाईं जिसका प्रभाव परवर्ती मूर्तिकारों पर पड़ा। बौद्धों ने मथुरा की बनाई हुई मूर्तियों को धार्मिक दृष्टि से स्वीकार किया। वासुदेव शरण अग्रवाल ने मथुरा की मूर्ति कला पर विचार के क्रम में भागवत भक्ति पर भी विचार किया है। उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन को समझने के लिए ये बहुत उपयोगी है। डॉ. अग्रवाल ने महायान धर्म को भागवतधर्म का बौद्ध रूपान्तरण कहा है।

भागवत धर्म की बड़ी विशेषता थी–सामूहिक कल्याण और लोक संग्रह। इस धर्म साधना ने व्यक्तिगत कल्याण की जगह पर सामूहिक हित को महत्व दिया गृहस्थ आश्रम की प्रतिष्ठा की। हम देखते हैं कि भक्तिकाल के अधिकांश कवि विवाहित हैं। कला के विकास को समझने के लिए इस स्थापना को समझना आवश्यक है। डॉ. अग्रवाल के शब्दों में–"भागवत् धर्म राजस्थान–मथुरा–भेलसा के प्रदेश में एक लोकव्यापी आंदोलन के रूप में फल रहा था। भक्ति का आदर्श लोक संग्रह की भावना के साथ मिलकर एक महत्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न कर रहा था। इस विचार–धारा ने जनता को दूर तक प्रभावित किया। आने वाले युग का धर्म व्यक्तिगत देवता में केंद्रित भक्ति के रूप में परिणत हुआ, परंतु यह भक्ति अपने आपको देवता में लीन करके केवल अपने

लिए मोक्ष प्राप्त करने का उपाय न था। यह एक सामूहिक कल्याण का धर्म था, जिसके मूल में कर्म और लोकसंग्रह की भावना बहुत प्रबल थी। इस भावना का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा, जो प्रथम शती में महायान संप्रदाय के रुप में प्रकट हुआ। महायान–धर्म भागवत धर्म का बौद्‌ध रुपांतर कहा जा सकता है। इन दोनों धर्मों की समान विशेषताएँ थी। गृहस्थ–आश्रम की महत्ता, व्यक्तिगत कल्याण की अपेक्षा सामूहिक लोक–हित या सर्वजन–हित भावना, एवं भक्ति इस क्रांति में बौद्‌धों के संप्रदायों ने आगे बढ़कर भाग लिया। महायान का दृष्टिकोण व्यक्ति के निर्माण से हटकर 'सर्व सत्वों के हित सुख' (सब जीवों के कल्याण) पर केंद्रित हुआ।"

गुर्जर चित्रशैली का प्रभाव पश्चिम भारत में था। इस शैली में मथुरा और वृंदावन के विभिन्न रुप अंकित है। इन चित्रों को देखकर मुगलकाल के पूर्व की भारतीय वेश–भूषा का भी परिचय पाया जा सकता है। गीत–गोविन्द के आधार पर बहुत से चित्र बने हैं। बल्लभ सम्प्रदाय में अलग ढंग से कृष्ण भक्ति का प्रचार किया। बिठ्‌ठलनाथ का पूरे ब्रज में बहुत प्रभाव था। ये गुँसाई जी के नाम से भी प्रसिद्‌ध थे। 'अकबर' के साथ इनके अच्छे संबंध थे। बल्लभ संप्रदाय का प्रचार–प्रसार गुजरात और राजस्थान में भी हुआ। इस सम्प्रदाय के सन्तों और अनुयायियों ने अनेक प्रकार के शिल्पकला, नृत्यगीत, चित्रकला और साहित्य को विकसित किया। यह सब कुछ कृष्ण को समर्पित था। बाद के मुगल शासक उदार नहीं थे। बल्लभ संप्रदाय की तरह अन्य कृष्ण भक्त संप्रदायों तथा अलग–अलग उपासना पद्‌धतियों से जुड़े होने पर ये पंथ देवालय या मंदिर के स्थान पर दूसरे शब्दों का प्रयोग किया वस्तुतः वह मंदिर ही होता था लेकिन अचानक उस पर ध्यान मूर्ति भंजको का न जाए इसलिए उसे छुपाना आवश्यक था। ब्रज के देवताओं के स्थान राजपूताने में स्थापित हुए। ब्रज से मूर्तियाँ ले जाकर नाथों द्‌वारा कोटा, करोली तथा जयपुर में स्थापित की गयीं। वैष्णवों ने इसे देवालय न कहकर हवेली या राज प्रासाद कहा। इस संप्रदाय के देवालयों में कई प्रकार की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। विभिन्न समयों पर जो कृष्ण की मूर्तियों के दर्शन कराए जाते हैं, उनकी वेशभूषा से जुड़े हुए चित्र भी बने तथा मूर्तियाँ भी बनीं। ब्रज की लीलाओं के आधार पर जो चित्र निर्मित हुए उसमें राधा–कृष्ण के मिलन के चित्र, यमुना का तट, मधुबन, रासलीला, वस्त्र, परिधान, आभूषण, गाय, मयूर के अतिरिक्त कालिया नागदमन, केशी वध, गोवर्धन धारण आदि से संबंधित मूर्तियाँ और चित्र अलग–अलग कालखंडों के प्राप्त होते हैं।

प्रश्न 7. ब्रज अपनी रासलीला के साथ ही संगीत की परंपरा और संरक्षण के लिए भी प्रसिद्‌ध है। ब्रज का संगीत क्या अलग है ? ब्रज की सांगीतिक धरोहर के विषय में सर कुछ बताइए ?

उत्तर : कृष्ण रास रंग के देवता हैं वे स्वयं मुरली बजाते हैं, नृत्य करते हैं, पीतांबर धारी हैं, कुंदुक खेलते हैं, गाय चराते हैं, यमुना में नाग को नोचते हैं युद्ध के मैदान में सारथी बनते हैं। देवता न भी माने तो ऐसा बहुआयामी व्यक्तित्व जिसका जीवन रासरंग से भरा हुआ है। विद्या, बल और ज्ञान के आगार हैं तो उसकी जन्मभूमि संगीत से ओतप्रोत होगी ही। ब्रज के सम्प्रदायों ने और उससे जुड़े कवियों आचार्यों ने भारतीय संगीत में रुचि दिखाई। अष्टछाप के आठों कवि महान गायक थे। इनके कंठ से भक्ति–संगीत की अजस्र धार प्रवाहित हुई। 'स्वामी श्री हरिदास' जी ने संगीत की आराधना इस प्रकार की कि वह उपासना के शिखर पर स्थापित हुए। तानसेन जैसे संगीतकार ने इनका शिष्यत्व ग्रहण किया। तानसेन के नाम से संगीत जगत परिचित है। स्वामी हरिदास के अन्य शिष्यों में दिवाकर पंडित, गोपाल लाल, सोमनाथ, मदन राय तथा राजा सौर सेन थे। चैतन्य महाप्रभु और उनके अनुयायियों ने भी संगीत और नृत्य का आधार लिया। हित हरिवंश राधा वल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इन्होंने ब्रज में भक्ति का प्रचार किया।

ब्रज में बहुत बड़ी संख्या में कीर्तनकार भक्त हुए। इन्होंने ऐसे पदों की रचना की जिन्हें गाया जा सकता है। कुछ ने स्वयं गाया और अपनी रचनाओं को कृष्ण को समर्पित किया। डॉ. राजेन्द्र रंजन ने कीर्तनकार भक्तों की एक सूची दी है–'हरिराय, हरिराम व्यास, काका वल्लभ जी, ब्रजाधीश गंगाबाई (बिट्ठल गिरिधरन), कल्याण, व्यास दास, मानदास, दामोदर हित, श्री भट्ट, अग्रदास, माधुरीदास, मुकुंदप्रभु, मेहा, धौंधी, रघुनंदन, रसखान, रसिक, रुपमाधुरी, रसिक बिहारी, रामराय, बिट्ठल दास, बिट्ठल विपिनबिहारी, बिट्ठल विपुल, विष्णुदास, वृंदावन, बिंदावनहित भूषण, सूरदास मदन मोहन, जनहरिया, हित हरिवंश, मीरा, हरिव्यास, देव, रुप रसिक देव, परशुराम, ब्रजदासी, सुंदर कुँवरि, तत्ववेत्ता, बिहारिनदेव, सरसदेव, नरहरिदेव, पीतांबर देव, सहचरिशरण, गदाधर, गिरिधर, गोकुलनाथ गोवर्धनेश, धनश्याम प्रभु, चतुरबिहारी, जगतानंद, जय भगवान, जुगल, ताज, दयाराम भाई, द्वारकेश, नवलसखी, नागरीदास, पुरुषोत्तम प्रभु, प्रान जीवन, बालकृष्ण, मथुरानाथ, अलीखान, अलीदीन आसकरण, आनंदघन, इच्छाराम, कटहरिया, कल्याण कान्हर, किशोरीदास, कुंजबिहारी, कृष्ण–कमल, कृष्णजीवन, लच्छीराम, कृष्णदास, गगरी गंग, गंग ग्वाल आदि।'

ब्रज के भक्त संगीतकारों ने राग रागिनियों की रक्षा की। विनय संबंधी पदों को अनेक रागों में गाया। पुष्टिमार्गीय भक्तों ने आठ समय की झाँकियों के लिए भी संगीत दिया। पदों के ऊपर राग लिखे हुए है वे साभिप्राय हैं। शास्त्रीय ढंग से समय को ध्यान में रखकर पदों के ऊपर राग लिखे हुए हैं। रात्रि और प्रभात के राग अलग हैं। इनके पद और प्रसंग अलग हैं। सूरदास ने एक पद में छत्तीस रागिनियों की चर्चा की है।

ब्रज क्षेत्र या ब्रज संस्कृति की बड़ी देन ध्रुपद गायिकी है। इसके आदि आचार्य के रुप में गोपाल नायक है। गोपाल नायक और उनके शिष्यों ने इसकी बारीकियों को पहचाना और उदग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग जैसी जो चार धातुएँ निश्चित की थी। उनका पालन किया और विकास किया। गोपाल नायक ने भारतीय पद्धति पर ध्रुपद को विकसित किया। घनाक्षरी छंद में ध्रुपद की पद रचना विकसित हुई। घनाक्षरी छंद लिखने का पहला श्रेय छंद शास्त्रियों ने 'सूरदास' को दिया। संगीत शास्त्र के इतिहास के अनुसार ध्रुपद के अनेक पद घनाक्षरी छंद में सूरदास के पहले भी लिखे गए। ध्रुपद गायन ब्रजभाषा के साथ विकसित हुआ और इसको राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ। ब्रजभाषा के ध्रुपद का विकास ईरान की संगीत पद्धति के साथ हुआ लेकिन आधार भारतीय संगीत पद्धति थी। ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर संगीत शास्त्र में रुचि रखने वाले विद्वान लेखक थे। उन्होंने ध्रुपद को संरक्षित किया। कह सकते हैं कि गोपाल नायक से प्रारंभ हुई ध्रुपद गायिकी मान सिंह तोमर के संरक्षण में फली–फूली। इस गायिकी की बड़ी विशेषता इसमें जनभाषा का होना है। इस कारण से इसकी लोकप्रियता पूरे ब्रजक्षेत्र के साथ ही, गुजरात तक होने में मात्र पचास वर्ष लगे। ध्रुपद की गायिकी में अध्यात्म और देवस्तुति महत्वपूर्ण है। तानसेन, मुसलमान हो गए थे इसके बावजूद केवल दस बंदिशों में इस्लाम की प्रशंसा है। कोई तीन सौ बंदिशों में हिंदू धर्म की। अभी भी कुछ लोगों का मानना है कि तानसेन ने धर्मांतरण नहीं किया। तानसेन ने अपने ध्रुपद की शुरुआत प्रभाकर, भास्कर, दिनकर, भानू, राधेकृष्ण, हरि, कृष्ण, सूरपति, ओंकार, शंकर, गंगाधर, नीलकण्ठ, गौरी, सरस्वती, दुर्गाभवानी, श्याम सलोने, त्रिपुरारी, गणपति, सिद्धेश्वरी, गंगा, भागीरथी, विष्णुपदा, त्रिपथगा, जाह्नवी, शारदा भवानी, हनुमान, सागर, गरुण, ध्रुव आदि की वंदना से किया है। पद के बीच–बीच में भी हिन्दू देवी–देवताओं के नाम आए हैं। एक पद में गंगा के विभिन्न नामों को तानसेन स्मरण करते हैं–

"जै गंगा जग तारनी जग जननी पापहरनी बेद बरनी बैकुंठ निसानी।
भागीरथी विष्णुपदा, पवित्रा, त्रिपथगा, जाह्नवी, जगजानी॥
ईस सीस मघ विराजत त्रइलोक पावन किये जीव जत खग मृग, सुर नर मुनि ज्ञानी।
तानसेन प्रभु तेरी अस्तुत करे तूं दाता भक्त जनन की मुक्त को बरदानी॥"

प्रश्न 8. सर, ध्रुपद के अलावा भी अन्य कई प्रकार के संगीत ब्रज में विकसित हुए उनका केंद्र भी ब्रज रहा। मैं चाहूँगा कि ब्रज पर चल रही चर्चा के बीच उसे भी नए सिरे से ब्रजभाषा और संगीत में रुचि रखने वाले लोगों के ध्यान में लाया जाए ?

उत्तर : सर्वविदित है कि बल्लभचार्य ने पुष्टिमार्ग का प्रवर्त्तन किया। पुष्टिमार्ग से संबंधित अलग–अलग प्रांतों में जो मंदिर बने, उन्हें कहीं देवालय कहते हैं तो कहीं हवेली। कई इतिहासकारों का मानना है कि हवेली नाम और मंदिरों के बनावट का स्वरुप हवेली जैसा देना, आक्रांताओं के मन में भ्रम उत्पन्न करने के लिए किया गया था, खैर पुष्टिमार्ग के देवालयों में गाए जाने वाले संगीत को हवेली संगीत कहते हैं। मध्यकाल में बल्लभाचार्य के समय संगीत के इतिहास को देखें तो दो परंपराएँ देवालय संगीत की तथा दरबारी संगीत की दिखाई पड़ती हैं। विट्ठलनाथ ने पुष्टिमार्ग सेवा के अंगों को भक्ति की दृष्टि से पूर्ण तथा लोगों को आकर्षित करने वाला बनाया। शृंगार भोग और राग के आयाम को भक्तों के लिए आकर्षक रुप में सजाया–सँवारा।

अष्टछाप के कवियों ने जो पद लिखे वह कीर्तन के रुप में गाए गए। कुंभनदास को पहला कीर्तनकार माना जाता है। इस दृष्टि से पुष्टिमार्गीय देवालय संगीत के प्रारंभकर्ता कुंभनदास थे। इस परम्परा को बल्लभ संप्रदाय ने व्यवस्थित रुप दिया। कीर्तन में भक्त, भगवान के साथ हर समय जुड़ा रहे। हर समय भगवान का गुणगान करता रहे इसके लिए 'पुष्टिमार्गीय वैष्णव देवालय संगीत' में नित्य कीर्तन की व्यवस्था की गयी। आठों झाँकियों में संगीत की और तद्नुसार रागों की योजना मिलती है। कृष्ण से जुड़े हुए उत्सव वर्ष पर्यंत चलते रहते हैं। इन उत्सवों पर गाने के लिए अलग–अलग पद और रागों की व्यवस्था की गयी है। पुष्टिमार्गीय कीर्तन में रागों के साथ–साथ तालों पर भी नए सिरे से विचार कर उसकी व्यवस्था की गई है। इस दृष्टि से कीर्तनकारों के दो प्रमुख केंद्र ब्रज और नाथद्वारा है। पुष्टिमार्गीय भक्ति धारा के कीर्तनों में अपने आपको नाथ द्वारा या ब्रज से किसी न किसी रूप से संबद्ध करके कीर्तन करते हैं। हवेली संगीत के स्वरूप में भी समय–समय पर परिवर्तन हुआ है। हवेली और ध्रुपद संगीत के साथ ही मंदिर और दरबार को केंद्र में रखकर इन दोनों के समन्वय और प्रयोग पर विचार करते हुए 'आनंद बिहारी तैलंग' ने लिखा है–"राजा मान सिंह तोमर के 'मान कौतुहल' में ध्रुवपद और विष्णुपद दो प्रकार की शैलियों का उल्लेख मिलता है। ये नहीं मानना चाहिए कि हवेली संगीत में केवल विष्णुपद ही हैं और ध्रुवपद केवल दरबार में ही गाए जाते थे। ध्रुवपद और विष्णुपद दोनों ही हवेली संगीत में है। वस्तुतः ख्याल गायकी का निकास हवेली संगीत से ही है। हवेली संगीत में भावयुक्त ध्रुवपद– ध ामार, 'ठुमरी', 'भजन' पद सभी आते हैं जो कि अनेक तालों में गाए जाते हैं। कहीं–कहीं हल्की तानों, मुरकियों का भी प्रयोग होता है। सम्पूर्ण हवेली साहित्य धुव्रपद जैसा नहीं है। हवेली संगीत 'मार्गी' संगीत है जो स्वस्थ हृदय, स्वस्थ मन तथा स्वस्थ मस्तिष्क को प्रसन्नतापूर्वक आनंदमय भक्ति का आभास कराता है।"

जिस ब्रज में स्वयं मुरलीधर कृष्ण हुए उस ब्रज का संगीतमय होना स्वाभाविक ही है। मुगलों की राजधानी आगरा थी। आगरा घराना स्वयं संगीत के लिए प्रसिद्ध है। 'फतेहपुर सीकरी' भी अकबर के समय संगीत के लिए प्रसिद्ध थी। आगरा घराने के बहुत से संगीतकार अपने समय के प्रसिद्ध राजयोद्धा सुजान सिंह के वंश के हैं। सुजान सिंह 'संगीतज्ञ' थे। अकबर के समय उन्हें 'दीपक ज्योति' की उपाधि मिली थी। वे मुसलमान हो गए थे। इनका परिवार अपनी गायिकी के कारण ध्रुवदीप नाम से प्रसिद्ध हुआ। सुजान सिंह ही हाजी सुजान खाँ के नाम से जाने गए। सुजान सिंह ने सात सौ ध्रुपदों की रचना की। आपके इस प्रश्न का उत्तर तानसेन के एक ध्रुपद के पद के साथ करूंगा। तानसेन कहते हैं कि कृष्ण की वंशी सुनकर ब्रज की वधुएँ घर छोड़कर इस लिए भागी आ रही हैं कि कृष्ण की मुरली की धुन बाकी बांसुरी की धुन से अलग हैं। वंशी के छिद्रों में सातों स्वर तीन ग्राम, इक्कीस मूरछना तथा और भी बहुत कुछ उसमें समाया हुआ है। इसलिए तीनों लोकों के लोगों ने अपने सुद्बुध को बिसरा दिया है–

"आज कान्ह वृंदावन मुरली बजाई सुखदाई है।
स्वर्ग लोक नर लोक पताल लोक सब सुन धुन बिसराई है॥
सप्तसुर तीनग्राम इक्कीस मूरछना बाइस सुर्त उनचास कोट तान रंध्रन में छाई है।
तानसेन के प्रभु रस बसकर लीने ब्रज बधू घर छोड़ स्याम जू पै आई है॥"

प्रश्न 9. ब्रज को समझने के लिए क्या राजस्थान तथा अन्य प्रांतों का ज्ञान आवश्यक है ? क्या वहाँ भी ऐसी रचनाएँ है ?

उत्तर : राजस्थान के कई जिले ब्रजभाषा बोलते हैं। मध्य प्रदेश के कई जिलों में ब्रजभाषा है। ब्रजभाषा की कविताएँ राजस्थान में खूब लिखी गई हैं। गोविन्द देव जी, मदनमोहन जी और श्रीनाथ जी जब राजस्थान चले गए तो साथ में ब्रज भी गया। बृजवासी भी गए। ब्रज संस्कृति भी गई। आम जनता से लेकर राजाओं तक ने उसे अपनाया। किशनगढ़ के राजा सावंत सिंह जी विरक्त होकर वृंदावन आ गए थे। उनके साथ 'बनी–ठनी' भी आई थी जो उनके सेवा में रही। किशनगढ़ शैली में बना राधा का चित्र राजस्थानी अन्य शैलियों से अलग है। कविता, कला, संगीत, खानपान, पहनावे के साथ ही रास रंग की दृष्टि से राजस्थान के बड़े क्षेत्र को ब्रज ने प्रभावित किया। पूरी वेश–भूषा की तरह जब हम ध्यान देते हैं तब भी ब्रज उत्तर प्रदेश और राजस्थान में दिखायी देता है। बल्लभाचार्य स्वयं आंध्र प्रदेश से आए थे उनके साथ तैलंग संस्कृति जुड़ी हुई थी। इस कारण से वे दक्षिण भारत विशेषकर आंध्र प्रदेश की संपृक्ति ब्रज के साथ हुई। ब्रज की पगड़ी भी अनेक प्रकार की है। कृष्ण भी अलग–अलग समय पर

अलग–अलग ढंग की पगड़ी धारण करते हैं। इन पात्रों की छटा अद्‌भुत है। जयदेव के 'गीत गोविन्द' को केंद्र में रखकर बहुत से चित्र बनाए गए हैं। ये चित्र जहाँ भी बने हो जिस प्रकार से बने हो, ब्रज से जुड़ते हैं। बल्लभ समुदाय से जुड़े हुए देवालय और कृष्ण भक्त राजाओं ने दीवालों पर तथा कागज पर जो चित्रकारी करवाई है जो राजस्थान में भी है। उत्तर प्रदेश में भी है तथा अन्य प्रांतों में भी है। हिंदी के शोधार्थियों और विद्‌यार्थियों ने कुछ फुटकर कार्यों को छोड़ दिया जाए तो कोई विशेष कार्य इस पर नहीं किया है। गुजरात में जो चित्रकला विकसित हुई उसमें भी कृष्ण है। भित्ति चित्रकला कृष्ण और कविता, साहित्य, कला, धर्म तथा संस्कृति के क्षेत्र में सुंदर संयोग है। भित्ति चित्र धीरे–धीरे विलुप्त हो रहा है। गुजरात की चित्रशैली में वृत्तनिरुपण की प्रमुखता है। उन्होंने बहुत सुंदर चित्र बनाए हैं।

असम और मणिपुर में भी कृष्णलीला पहुँची। उसके साथ ब्रज संस्कृति भी वहाँ गयी। शंकरदेव की रचनाएँ ब्रजबुलि में हैं। कृष्ण चरित्रों को ध्यान में रखकर उन्होंने नाटकों की रचना की। मणिपुरी नृत्य तो शुद्‌ध कृष्ण भक्तिपरक वैष्णव नृत्य है। इम्फाल में गोविन्द देवजी की उपस्थिति है। ब्रज को मणिपुर ने गहराई से समझा है। मणिपुरी नृत्य, संगीत, नाटक और कला पर हिंदी वालों ने अभी तक उतना ध्यान नहीं दिया है।

प्रश्न 10. ब्रज लोक साहित्य की खास विशेषताएँ क्या हैं ? क्या अन्य भाषाओं की तरह ब्रज में भी लोकगीत है ?

उत्तर : ब्रज में विवाह के विभिन्न प्रसंगों के गीत हैं–विवाह में गारी और जेवनार घुड़चढ़ी, गँवना, सगाई, लगन, भात, तेल, रतजगा, मंगल, भाँमर पड़ना, सुबह का जागरण, बहु की विदा होना, जाति परक गीत आदि हैं। इसके अतिरिक्त लोक साहित्य में देवी गीत, संध्या, प्रभाती, तीर्थ व्रत स्नान, देवी–देवताओं के ब्याह, फसल बोने, काटने, श्रम परिहार के गीत, लड़के–लड़कियों से संबंधित गीत, खेल के गीत, विभिन्न कथा प्रसंगों के गीत, हँसी–ठिठोली, होली, सावन, वसंत आदि से जुड़े हुए लोकगीत होते हैं। सभी प्रकार के लोकगीत ब्रज के लोक में भी विद्‌यमान हैं। समय–समय पर आज भी विशेषकर ग्रामीण क्षेत्र में इनका गायन होता है। अब मैं साक्षात्कार को ब्रज के एक प्रसिद्‌ध सोहर गीत के साथ पूरा करता हूँ–

"चौकी पै बैठे राजा दसरथ अए, नीचें कौसिल्या।
राजे, हमें ओ संपति की ऐ साध, संपति फलु देउ, कुँमरु तुम्हारें होई॥
बोलौ अजुध्या के पंडित, हाल चले आँमे, तुरत चले आँमे।
साटी के आछत डारौ, कुँमरु मेरें होंइ, लाल तुम्हारे होंइ॥

चिट्ठी तौ होइ जाए बाँचि सुनाऊँ, करमु मो पै नाँ बचै।
कूआ रे होइ जाइ पाटूँ समुद मोपै ना पटै॥
बोलौ अजुध्या के माली, हाल चले आँमे, तुरत चले आँमे।
राजे, जनम–घुटी दै जाउ, औखदि बतलाऔ, दबा बतलाऔ न रे॥
पहलें तौ पीई ऐ कौसिल्या, पीछें सुमित्रा, सिल–धोई पीई ऐ केकइया,
तीन्यों गरभ सूँ न रे।
कौसिल्या कें भए रामा राम, सुमित्रा कें लछिमन केकई के भरत शत्रुघन,
तौ चारि कुमर भए॥
तौ बाजत तबल–निसाँन, गँवन लागे सोइले, राजा दसरथ थैली लुटाइ,
गौअन–दाँन कराइऐ॥
भीतर ते बोलीं केकइया, राजा थोरी–थोरी द्रब्ब लुटाऔ,
जे लाला बन कूं जौ जाँइगे।
ऐसे बोलमति बोलौ केकइया, धुरि रहे तबल निसान॥"

प्रस्तुति : पीयूष कुमार
द्विवेदी

लेखकों के नाम व पते

1. **डॉ. नृत्यगोपाल शर्मा**–हंसराज कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
2. **डॉ. जगदीश प्रसाद शर्मा**–रुक्मिणी विहार, कृष्णा नगर, मथुरा
3. **डॉ. प्रभात कुमार मिश्र**–हिंदी विभाग, असम विश्वविद्यालय, सिलचर, असम
4. **डॉ. सत्य प्रकाश पाल**–हिंदी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्याल, ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश
5. **डॉ. के. श्रीलता विष्णु**–अध्यक्ष, हिंदी विभाग, श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, पन्मना काँपस, कोल्लम–691583
6. **डॉ. राजेश कुमार शुक्ल**–सहायक आचार्य (हिंदी) श्री रंगलक्ष्मी आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, वृंदावन, मथुरा–281121
7. **डॉ. प्रतिभा चौहान**–हिंदी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, सेक्टर–16, फरीदाबाद
8. **डॉ. अरुण कुमार चतुर्वेदी**–शिक्षा संकाय, ल.सिं.म.रा. स्नातक महाविद्यालय, पिथौरागढ़, उत्तराखंड–262502
9. **कंचन सिंह**–हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
10. **नीरज शर्मा**–हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्याल, अलीगढ़
11. **प्रो. हरिमोहन**–कुलपति, जे.एस. विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद
12. **प्रो. उषा यादव**–73, नार्थ ईदगाह कॉलोनी, आगरा–282010
13. **डॉ. यशवंत सिंह**–अध्यक्ष, हिंदी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय, काँचीपुर, इम्फाल–795003
14. **डॉ. संध्या द्विवेदी**–हिंदी विभाग, महात्मा गाँधी बालिका विद्यालय (पी.जी.), फीरोजाबाद
15. **डॉ. नीलम राठी**–52, रोशन मंडी, नजफगढ़, नई दिल्ली–110043
16. **डॉ. आशीष सिसोदिया**–हिंदी विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर, राजस्थान–313001
17. **पीयूष कुमार द्विवेदी**–केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

रचनाकारों से निवेदन

'भावक' में प्रकाशन हेतु पत्रिका की प्रकृति के अनुरूप हिंदी साहित्य : सृजन एवं चिंतन के विविध आयामों पर केंद्रित रचनाएँ आमंत्रित हैं। कृपया सभी लेखक अपने शोध आलेख संदर्भ सहित केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा स्वीकृत मानक हिंदी यूनिकोड में टाइप कर drjyotsnar@gmail.com, bhaavakpatrika @gmail.com पर भेजने का कष्ट करें।

दूसरे अन्य फॉण्ट से लेख भेजने पर उसके साथ फॉण्ट भी भेजें। अस्वीकृत रचनाएँ लौटाई नहीं जाएँगी। मानदेय हेतु रचनाकारों से उनके लेख के साथ बैंक–अकाउंट नंबर, बैंक एवं उसकी शाखा का नाम, IFSC कोड आदि की जानकारी उपलब्ध कराना अपेक्षित है।

.....

''भावक'' सदस्यता फार्म

नाम .....

डाक का पता .....

.....

.....

सदस्यता शुल्क : व्यक्ति – प्रति अंक रु. 40/–, वार्षिक – रु. 150/–
संस्थागत – वार्षिक शुल्क रु. 250/–
(डाक व्यय प्रति अंक रु. 35/– तथा वार्षिक रु. 100/– अतिरिक्त होगा)
विदेशों में प्रति अंक $10, वार्षिक $40

डी.डी./मनीऑर्डर का विवरण .....

दूरभाष.....ईमेल.....

.....

निर्धारित सदस्यता शुल्क का डी. डी/मनीआर्डर **सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा** के नाम से देय है। अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें–प्रकाशन विभाग, केंद्रीय हिंदी संस्थान, हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा–282005 (उत्तर प्रदेश), भारत

फोन / फैक्स – 0562-2530684, मोबा. नं. – 9971621264